षष्ठोऽध्याय

मुनिजन का भरत से प्रश्न—

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महर्षयः[1]।
भरतं[2] मुनयः सर्वे प्रश्नान्पञ्चभिधत्स्व नः ॥ १ ॥

इस प्रकार पूर्वरंग विधि का श्रवण कर चुकने पर महर्षि गण पुनः 'भरत' से जिज्ञासापूर्वक बोले—हे मुने, आप हमारे पाँच प्रश्नों[1] का उत्तर दीजिए।

ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्यै नाट्यविचक्षणैः।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

नाट्य-कला के मर्मज्ञ नाट्य में जिसे 'रस' कहते हैं वह क्यों 'रस' कहलाता है ? इसका कारण बतलाने की कृपा करें[2] ॥ २ ॥

---

१. नाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय में भी मुनियों ने नाट्य की उत्पत्ति, उसके प्रयोजन, विस्तार, विभाग या अङ्ग तथा प्रयोग के स्वरूप जानने की इच्छा से पाँच प्रश्न किये थे जिनका कुछ विवरण देते हुए उनका समाधान पिछले पाँच अध्यायों में दिखलाया जा चुका है। और इन्हीं प्रश्नों का विस्तार से व्याख्यान समग्र नाट्यशास्त्र में है भी तथापि यहाँ जो पाँच प्रश्न पूछे गये हैं वे उपर्युक्त (पाँच) प्रश्नों से भिन्न हैं। इनमें प्रथम प्रश्न है-रसों का रसत्व किस प्रकार उत्पन्न होता है ? (अर्थात् इन्हें रस क्यों कहा जाता है); दूसरा प्रश्न है—भाव क्या है और वे क्या करते हैं ?; तीसरा प्रश्न है—संग्रह किसे कहते हैं; चौथा है—कारिका का लक्षण क्या है और पाँचवा प्रश्न है—निरुक्त (अर्थात् उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा का लक्षणगत निर्वचन) का क्या स्वरूप है।

२. नाट्य के जिन चार अङ्गों (पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस) का प्रथम अध्याय में [का १७ में] निदर्शन है इनमें चौथे अङ्ग रस का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। क्योंकि लोकप्रचलन में रसेन्द्रिय से ग्राह्य गुण को रस

---

१. महत्तमाः—ग० घ०। २. मुनयो भरतं सर्वे पञ्च प्रश्नान् ब्रवीहि नः—ग०।

भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि ।
संग्रहं कारिका चैव निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥ ३ ॥

और भाव क्यों कहे गये हैं और वे किसे 'भावित' करते[1] हैं ? उसके अतिरिक्त संग्रह[2], कारिका तथा निरुक्त को भी बतलाइये क्योंकि इन्हीं से भाव आदि का परिज्ञान किया जाता है ।

भरत का प्रत्युत्तर—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसाभावविकल्पनम् ॥ ४ ॥

मुनिगण के इन वचनों को सुन कर भरतमुनि रस तथा भावों की विशेषता बतलाते हुए पुनः बोले[3] ॥ ५ ॥

अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
संग्रहं कारिकां[1] चैव निरुक्तं च यथाक्रमम्[2] ॥ ५ ॥

कहा जाता है । ऐसी दशा में नाट्यांगों में आनेवाले रस का शृङ्गारादि शब्द के साथ प्रयोग करने पर उसमें रसत्व कैसे होगा यह जिज्ञासा रह जाती है । इसी जिज्ञासा को यहाँ प्रथम प्रश्न के द्वारा उपस्थित किया जा रहा है ।

१. अभिनव का कथन है कि मूल में 'भावाश्चैव' इत्यादि के द्वारा भावों के विषय में चार प्रश्न होते हैं जिनमें 'कथं प्रोक्ताः' से एक प्रश्न तथा 'किं वा ते भावयन्ति' के द्वारा दूसरा प्रश्न शब्दतः अभिहित किया गया है और भाव-शब्दगत व्युत्पत्ति-विषयक दो प्रश्न 'किं भवन्तीति भावाः' अथवा 'भावयन्तीति भावाः' अर्थाक्षिप्त हैं [इस प्रकार से चार प्रश्न हैं ।]

२. संग्रह का अर्थ है उद्देश्य, कारिका का अर्थ लक्षण तथा निरुक्त शब्द का अर्थ परीक्षा है ।

३. क्रमानुसार प्राप्त होने तथा मुनिजन द्वारा पूछे जाने पर रस का निरूपण करने के लिये भरत मुनि बोले यह सूचित करने के लिये मूल में 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

---

१. कारिकाश्चैव—क० । २. यथाविधि—क० ।

न शक्यमस्य[1] नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
कस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः ॥ ६ ॥
एकस्यापि न वै शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
गन्तुं किं[2] पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥ ७ ॥

हे मुनिजन, मैं आपको विस्तारपूर्वक क्रमशः संग्रह, कारिका तथा निरुक्त के विषय में बतलाता हूँ ॥ ५ ॥

इस 'नाट्य-विद्या' का किसी प्रकार अन्त (निश्चयात्मक ज्ञान) पाना संभव नहीं है; क्योंकि ज्ञान[1] तथा शिल्पों का (जो कि इस 'नाट्य' से सम्बद्ध हैं) कोई अन्त नहीं है ॥ ६ ॥

जब इनमें से किसी एक (अंगभूत) विषय का ही सामग्र्येण ज्ञान संभव नहीं जो समुद्र के समान विस्तीर्ण हैं, तब फिर सभी ज्ञानों के तात्त्विक आशय तथा उनके समग्र तत्त्वों के अन्तिम छोर तक पहुँचना कैसे संभव हो सकता है ॥ ७ ॥

किन्त्वल्पसूत्र-ग्रन्थार्थ[3]मनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम् ॥ ८ ॥

मैं आपको 'नाट्य' के रस तथा भाव के (संग्राहक) संग्रह[2] को

---

१. यहाँ ज्ञान पद से व्याकरण आदि शास्त्र तथा शिल्पशब्द से चित्रकला, पुस्तकादि कला का ग्रहण है । इन ज्ञान और शिल्प का कोई अन्त नहीं है ।

२. रस तथा भाव के संग्रह अर्थात् उद्देश्य को—जिसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय को संक्षिप्त कर ग्रहण किया जाता है —यह नाममात्र के कथन से संक्षिप्त होकर उद्देश (जिसका लक्षण हो उस) के धर्मी को निश्चित करता हुआ अनुमान का प्रकृष्ट साधक होता है अर्थात् उद्देश अनुमान का महत्त्व-पूर्ण साधक बन कर रहता है । इस उद्देश या संग्रह के द्वारा हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष का निश्चय हो जाता है और यह आश्रयासिद्धि नामक हेत्वाभास का निराकरण कर अनुमान के पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्ग को पुष्ट कर अनुमान का प्रकृष्ट साधक बन जाता है । (अ० भा०)

---

१. शक्यमन्तं—ग०; शक्यमिह—घ० । २. किमुत सर्वेषां—घ० ।
३. गूढ़ार्थं—ग० ।

बतलाता हूँ जो अल्प परिमाण वाला, सूत्र भूत अर्थों वाला तथा अनुमान से सिद्ध होने वाला है ॥ ८ ॥

संग्रह आदि के लक्षण—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥

सूत्र[1] तथा भाष्य के विस्तारपूर्वक निरूपित अर्थों का जो संक्षिप्त निबन्धन (ग्रथन) है, विद्वानों के मत में वही 'संग्रह' कहलाता है ॥ ९ ॥

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः[1] ।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥ १० ॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी (नाट्य तथा लोक), वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग ये 'संग्रह'[२] कहलाते हैं ॥ १० ॥

[[२]उपचारस्तथा विप्रा मण्डपाश्चेति सर्वशः ।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः ॥ ११ ॥]

[और हे मुनियों, यह संग्रह तेरह भेदों[३] वाला कहा गया है । इसके शेष प्रकार हैं उपचार तथा मंडप ।]

---

१. कारिका में आये हुए 'सूत्र' पद का अर्थ है लक्षण और उस लक्षण की स्पष्टीकरणरूपा परीक्षा 'भाष्य' कहलाती है ।

२. 'संग्रह' के ११ अङ्ग इस कारिका में दिये गये हैं । आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने अपनी व्याख्या में बतलाया कि भरताचार्य सम्मत अङ्ग केवल पाँच हैं [जिनमें आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य (तीन प्रकार का) अभिनय तथा गान और वाद्य मिलकर नाट्य के पाँच अङ्ग हो जाते हैं] एकादश अङ्ग कोहलाचार्य के मत में (होते) हैं [भरत के मत में नहीं] पर यहाँ कारिका में कोहल द्वारा निर्दिष्ट क्रम को बदल दिया गया है ।

३. संग्रह के ये त्रयोदश अङ्ग किसी अन्य परम्परा से लेकर यहाँ समाविष्ट कर दिये गये प्रतीत होते हैं तथा अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से समर्थित न होने से प्रक्षिप्त हैं ।

---

१. धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः—क० । २. पद्यमिदं ग पुस्तके नास्ति ।

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रतः सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रदर्शिनी[1] ॥ १२ ॥

जब किसी अर्थ का संक्षेप में परिमित शब्दों में (सूत्र रूप में) कथन किया जाए तो अर्थों की संक्षेप में बोधिका उक्ति को 'कारिका'[1] कहते हैं ॥

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुं निगमान्वितम्[2] ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥ १३ ॥

जो अनेकविध संज्ञा के आश्रय से (अर्थात् सुबंतों से) उत्पन्न हो (और) कोश तथा व्याकरण के नियम के अनुकूल हो, जिसमें मूल धातु में निहित अर्थ सहेतु विद्यमान हो तथा जो अनेक प्रकार के सिद्धान्तों

---

१. अभिनवगुप्ताचार्य ने लक्षणरूप अर्थ, उस लक्षण के वाचकसूत्र तथा उसके संक्षिप्त अर्थ के विवरण स्वरूप श्लोक सभी को 'कारिका' माना है। [अर्थात् सूत्र, उसके अर्थ को प्रतिपादन करने वाले श्लोक तथा उसका प्रतिपाद्य-विषय या लक्षण इन तीनों को 'कारिका' समझना चाहिये ।] पदार्थ के स्वरूप का बोध 'कारिका' के द्वारा होता है अर्थात् लक्षण को ही कारिका कहते हैं । उस लक्षणरूप तत्त्वार्थ को निदर्शन करने से उपचार के द्वारा श्लोक (पद्य) भी 'कारिका' कहलाते हैं । इस प्रकार कारिका के भेद (प्रकार) होते हैं । सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक । कारिका के द्वारा पद्यात्मक रूप के द्वारा सूत्ररूपेण प्राप्त लक्षणरूपी अर्थ का कथन होता है जो स्वल्पशब्दों के द्वारा निरूपित होने पर लक्षणीय अर्थ का अन्य धर्मियों से विभेद कराने वाले लक्षणरूप प्रकर्ष को प्रकाशित कराने वाला धर्म है।

इस प्रकार अभिप्राय यह हुआ कि उद्दिष्टार्थ का अन्य धर्मियों से विभेदक धर्म 'लक्षण' है। यह पहिले सूत्र के द्वारा किया जाता है फिर शङ्का समाधान के द्वारा उसी सूत्र के व्याख्यानात्मक प्रकार से श्लोकरूप कारिका के द्वारा प्रतिपादित होता है। इन दोनों [सूत्र और श्लोक] का प्रतिपाद्य विषय लक्षण होता है। यह लक्षण श्लोक के द्वारा प्रतिपादित अर्थ होकर, 'कारिका' कहलाता है। (अ० भा०)

---

१. प्रयोगिनी—ग० । २. निघण्टुनिगमान्वितम्—ख० ।

(आक्षेप तथा प्रतिसमाधानों) से (परीक्षापूर्वक) साधित हो तो उसे 'निरुक्त' समझना चाहिए ॥ १३ ॥

स्थापितोऽर्थो[1] भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः[2] ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

और जब किसी संज्ञा का अर्थ धातु के अर्थ का अनुसरण करता हो, तथा (प्रकृति प्रत्यय के संयोग द्वारा) प्रख्यात अर्थ (प्रतीत होने वाला या कथित अर्थ) संक्षेप में अपने आशय को प्रकट कर दे तो उसे (भी) 'निरुक्त'[1] कहा जाता है ॥ १४ ॥

---

१. निरुक्त का प्रयोजन है साररूप संक्षेप के द्वारा अर्थ का निश्चय करना। समास अर्थात् संक्षेप से अनेक लक्ष्यार्थों के भेद से भिन्न लक्षणीयार्थ का सूचक जो लक्षण रूप अर्थ हो वही आक्षेप प्रतिसमाधान रूप वाला [खण्डनमण्डनात्मा] (जिस वस्तु के होने पर स्थापित किया जाए वह परीक्षात्मक स्वरूप वाला) 'निरुक्त' होता है। अर्थात् आक्षेप और प्रतिसमाधान के द्वारा लक्षण की परीक्षात्मक व्याख्या करना 'निरुक्त' है।

निरुक्त के द्वारा लक्षण की स्थापना कैसे की जाती है इसका प्रतिपादन १३ वें श्लोक में है। इसमें क्रियाविशेषणों के द्वारा आक्षेप-प्रतिसमाधान प्रकार बतलाते हैं—नानाप्रकार के जो नाम (सुबन्त शब्द) उनके आश्रय से उत्पन्न अर्थात् आक्षेप-प्रतिसमाधान की जिसमें उत्पत्ति हो वह निरुक्त [अर्थात् सुबन्त पदों की इदमित्थं द्वारा परीक्षा करना] कहलाता है। प्रश्न—नाम (सुबन्त) पदों में आक्षेप और प्रतिसमाधान कैसे होता है? उत्तर—निघण्टु अर्थात् शब्दकोश के द्वारा तथा निगम (शब्द-शास्त्र) के द्वारा। शब्दकोश के द्वारा रूढ़ि शब्दों की और निगम के द्वारा शब्दों के यौगिक या योगरूढ़ शब्दों की प्रकृतिप्रत्यय के विभाग द्वारा विवेचना होती है लक्षण वाक्य में (जो) धात्वर्थ अर्थात् क्रिया और क्रिया के निमित्तभूत कारकों का संयोग या विचार जहाँ स्थापना के लिये लिया जाए वह भी निरुक्त (होता) है। इसमें लक्षण-वाक्य में पहिले शब्द परीक्षा के अन्तर्गत आक्षेप (प्रश्न) किया जाता है कि यह

---

१. साधितो—क०। २. सूचकम्—ग०।

संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥ १५ ॥

हे मुनिजन, मैंने संक्षेप में जो संग्रह (उद्देश) बतलाया उसे ही अब विस्तार (विभाग)[1] पूर्वक लक्षण (कारिका) तथा परीक्षा (निरुक्त) द्वारा बतलाता हूँ ॥ १५ ॥

रसों की संख्या तथा संज्ञा—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १६ ॥

अर्थ इस विशेष अर्थ में कैसे प्रयुक्त हुआ । फिर इस प्रकार यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ ऐसा विवेचना करते हुए उत्तर देना प्रतिसमाधान कहलाता है ।

निर्वचनात्मा निरुक्त चार प्रकार का होता है (१) प्रतिपादिक या नाम के द्वारा । जैसे उलूखल शब्द की 'उर्ध्वं' 'खमस्योलूखलः [जिसके ऊपर आकाश है वह] व्याख्या । (२) धातु के द्वारा । जैसे 'रस्यते इति रसः' यहाँ रस्यते क्रिया पद से निर्वचन किया गया है । (३) नाम और धातु के द्वारा जैसे—'पिशितमश्नातीति पिशाचः' [यहाँ पिशित शब्द और अश्नाति क्रिया के द्वारा निर्वचन किया गया है] तथा (४) सङ्केत के द्वारा । इस चतुर्थ प्रकार के तीन भेद हैं—(१) लौकिक शब्द जैसे भू सत्तायम् । (२) वैदिक शब्द जैसे दीधीङ् धातु दीप्ति और देवन (पासों से क्रीड़ा करना) अर्थ में प्रयुक्त होता है । (दीधीङ् आदि पाँच धातु वेद में ही प्रयुक्त होते हैं अतः यह वैदिक संकेत है) । तथा (३) पारिभाषिक शब्द—जैसे गान्धर्ववेद में गीतविशेष के अर्थ में पठित 'ओवेणक' शब्द । [ऐसे शब्द प्रत्येक शास्त्र के पार्षद् या अङ्गरूप में परिभाषित संकेत होते हैं पाणिनि के वृद्ध घि टि जैसे आदि संकेत] । (अ० भा०)

१. विस्तार या विभाग के द्वारा ही संग्रह (उद्देश) बतलाया जाता है और यह विभाग उद्देश्यान्तर्गत ही (होता) है । उद्देश, लक्षण और परीक्षा या संग्रह, कारिका और निरुक्त रूप त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का विभाग केवल विस्तार करता है । अतएव विभाग पृथक् नहीं है उसका अन्तर्भाव उद्देश में ही होता है । यही आचार्य भरत तथा अभिनवगुप्ताचार्य को इष्ट है । (अ० भा०)

नाट्य[1] में स्वीकृत रस आठ हैं—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स तथा (८) अद्भुत ॥ १६ ॥

---

१. नट के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्षवत् प्रतीयमान, एकाग्रमन की निश्चलता के कारण अनुभव किया जाने वाला और नाटक (या काव्य) विशेष से प्रकाशित होने वाला अर्थ 'नाटच' कहलाता है। यह नाटच आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के असंख्य होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है, किन्तु समस्त विभागों के ज्ञान में पर्यवसित होने तथा उस ज्ञान का उपभोक्ता में पर्यवसान होने से और भोक्ताओं के भोक्ता (नायक) में पर्यसान होने से नायक की (रत्यादि रूप) स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति भी 'नाटच' है। अर्थात् 'रस' ही 'नाटच' है एवं नाटच की सामग्र्येण उपलब्धि रस में ही होती है।

नाटक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रधानचित्तवृत्तिरूप नायक की एक चित्तवृत्ति मेरे हैं या दूसरे के हैं इस प्रकार के भाव से रहित होकर लौकिक गीतों के गेयपदादि लास्य के दस अंग से युक्त और स्वीकृतलक्षणसम्पन्न गुण, अलंकार, गीत-वाद्य आदि के संयोग द्वारा अतिशय मनोहारित्व को प्राप्त होकर काव्य की महिमा एवं नट के द्वारा अनुष्ठित प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास विशेष के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि प्राप्तकर नायक की अपनी चित्तवृत्ति सामाजिकों को भी अपनी सीमा में समाविष्ट करा देती है और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य [अभेद] होने के कारण ही अनुमान, आगम रूप परीक्षात्मक एवं इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना ही उत्पन्न होने वाले योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न रसादि का अनुभव न करने वाले [तटस्थ] प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण एवं लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप में प्रतीत होने वाली नायक के अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना आदि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के समान अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में अक्षम होने से निर्बाध अनुभूति के विश्रान्ति स्वरूप आस्वादन नामक व्यापार के द्वारा गृहीत होने से 'रस' शब्द से अभिहित होती है।

अतएव जिस नाटचरस की अभिव्यक्ति होती है, वह मुख्यभूत महारस है यह (१) स्फोट के समान असत्यभूत अथवा (२) अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्यरूप या (३) अभिहितान्वय के समान—प्रधानरस

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान् ॥ १७ ॥

समुदायरूप है । यहाँ इस प्रकार के अन्य रस प्रधानरस के अंश रूप में अवस्थित से दिखाई देते और वर्णन किये जाते हैं । (अर्थात् स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वर्ण, पद और वाक्य अखण्ड हैं और वाक्य में पदों की और पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती । अखण्ड पदों को 'पदस्फोट' तथा अखण्ड वाक्य को 'वाक्यस्फोट' कहा जाता है तथा यह स्फोट ही अर्थबोधक होता है । इसका आशय यही कि नाटच में रस की प्रतीति अखण्डाभिव्यक्तिरूप में ही होती है वाक्य तथा पद के समान उसमें अवयवों की प्रतीति असत्य कल्पना होगी । इस प्रकार अन्विताभिधानवाद का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ बोध में (पदों का अभिहित होने के बाद अन्वय नहीं होता किन्तु) पदों के द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है । अतः अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होने से पदार्थ ही सत्य है उनकी अलग २ स्थिति उपायमात्र है । निष्कर्ष यह कि नाटच रस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायभूत सत्य के समान है । अभिहितान्वयवाद में पदार्थों का बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूप से वाक्यार्थ का बोध होता है । इसी तरह नाटच रस के अन्तर्गत अन्य सब रसों की स्थिति पदार्थों के समान अङ्गभूत (गौण होती) है और ये प्रधानरस का बोध समुदाय रूप में करवाते हैं) । (अ० भा०)

अभिनवगुप्त के मत में रस नौ हैं । अतएव 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव' ऐसा पाठ है । परन्तु नाटक में जो शान्तरस को नहीं मानते उनके मत में 'अष्टौ रसः' पाठ माना गया है । भरत ने आठ रसों को नाटच में मान्यता दी थी । नाटचशास्त्र के इस भरतोक्त क्रम का अभिनवगुप्ताचार्य ने बड़े ही सुन्दर रूप में उपपादन किया है । यथा—भरत द्वारा शृङ्गार रस को प्रथम स्थान देने का कारण है उसका जाति सकल सामान्य होना । उसके प्रति सभी का आकर्षण रहना और उसका अत्यन्त परिचित होना । इसी कारण प्रायः सभी आचार्यों ने उसकी प्रधानता मानी है । शृङ्गार का अनुसर्ता होने से 'हास्य' द्वितीय स्थान पर है । शृङ्गार-निरपेक्ष तथा हास्य के प्रतिकूल होने से 'करुण'

ये आठ रस महामना ब्रह्मा के द्वारा कहे गए हैं। अब मैं आपको स्थायी[1] संचारी तथा सात्विक भावों को बतलाता हूँ॥ १७॥

स्थायी भाव—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिता॥ १८॥

ये (आठ) स्थायी भाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय[2]॥ १८॥

का तीसरा स्थान है। करुण से उत्पन्न (अर्थात् मूल में करुण होने) से रौद्र का चतुर्थ स्थान है। (क्योंकि यह अर्थ प्रधान है) पांचवाँ है बीभत्स। यह धर्म प्रधान है और धर्म अर्थ का मूल है। वीरों का कार्य भयार्तजन को अभय प्रदान करना होता है अतएव छठाँ भयानक रस है। भय के विभावों से निर्मित बीभत्स का सातवाँ स्थान है। तथा आठवाँ अद्‌भुत है क्योंकि वीरता के परिणाम-भूत विस्मय (कार्य) से 'अद्‌भुत' प्रतीत होता ही है। इस प्रकार आठ रस त्रिवर्गात्मक हैं तथा प्रवृत्ति धर्म से सम्बद्ध हैं इसी कारण ये 'नाट्य' में उपयोगी रस हैं क्योंकि नाट्य स्वयं त्रिवर्गसाधक (आचार्यगण मानते) हैं। निवृत्ति धर्म से सम्बद्ध नवाँ रस शान्त है जो उभय धर्मोपयोगी तथा मोक्षफलक होता है और इसी कारण इसका तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' स्थायी माना जाता है। (अ० भा०)

१. रस का अनुभव विभावादि के द्वारा होने के कारण रस के बाद स्थायी, संचारी तथा सात्विक भावों का वर्णन [उद्देश्य रूप में कथन] यहाँ अवसर प्राप्त है। इनमें भी लौकिक रत्यादि रूप चित्तवृत्ति के परिचय के बिना कवि या अभिनेता रस के साथ सम्बद्ध विभावादि को उपस्थित करने में असमर्थ होते हैं अतएव भावों के वर्णन में सर्वप्रथम स्थायी भाव का निर्देश किया गया। (अ० भा०)

२. (शान्त रस मानने पर) स्थायीभावों के पाठ को 'जुगुप्साविस्मयशमाः' मान कर इस शान्तरस का 'शम' स्थायीभाव कुछ विद्वान् मानते हैं। अन्य विद्वान् शान्तरस का स्थायीभाव 'उत्साह' या 'जुगुप्सा' मानते हैं तथा कुछ विद्वान् सभी स्थायीभाव शान्त के स्थायी हो सकते हैं अतः उसके विशेष स्थायीभाव का पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं मानते। (परन्तु वास्तव

संचारी भाव—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यश्चैव दैन्यश्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १९ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ २० ॥
सुप्तं [1]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २१ ॥

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २२ ॥

तैंतीस[1] संचारी भाव (इस प्रकार) हैं। (१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीडा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जडता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) आमर्ष, (२६)

में) तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' [वैराग्य] इसका स्थायी भाव है। निर्वेद में स्थायी भाव तथा संचारी भाव के (दोनों के) धर्म रहते हैं। इसी बात को संकेतित करने के लिये व्यभिचारी भावों की गणना में इसे प्रथम स्थान दिया है, जबकि यह अमंगल स्वरूप है और इसीलिये भरत ने स्थायी भावों की संख्या की गणना में संख्या का निर्देश नहीं किया। ये स्थायी भाव भिन्न रसों की व्यभिचारित्व को प्राप्त कर लेते हैं। [अर्थात् स्थायी भाव भी अन्य रसों में संचारी भाव वन जाते हैं] [अ० भा०]

१. संचारी भाव ३३ ही होते हैं और ये ही व्यभिचारिभाव हैं। इसी नियम को निर्दशित करने के लिये मूलकारिका में 'त्रयस्त्रिशत्' तथा 'अमी' पद दिये गये हैं। नाट्य में इन्हीं भावों का प्रयोग इष्ट है।

---

१. प्रबोधो—ग०।

अवहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास तथा (३३) वितर्क।

सात्विक भाव—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गो[1]ऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २३ ॥

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक आठ सात्विक[1] भाव हैं ॥ २३ ॥

नाट्याश्रित अभिनय प्रकार—

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्था ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया[2] नाट्यसंश्रयाः ॥ २४ ॥

नाट्याश्रित अभिनय के चार प्रकार हैं। (१) आंगिक[2], (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्विक ॥ २४ ॥

---

१. सात्विक भावों के द्वारा संचारी या व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति में या अभिनय द्वारा उनके प्रस्तुतीकरण में सहायता प्राप्त होती है। इसी कारण संचारी भावों के उल्लेख के बाद ही सात्विक भावों का उद्देशरूप में कथन किया गया। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार सात्विक भाव में व्यभिचारी भावों के तथा अभिनय के धर्म होते हैं इसलिये इनका अभिनय कला से सीधा सम्बन्ध होता है परन्तु ये अभिनय (आदि के (ही) भेद नहीं होने) से भिन्न होते हैं।

२. आङ्गिक-अभिनय का कार्य शरीर के द्वारा नाटचशास्त्र में अभिहित लक्षणों से कार्य सम्पादन करना है। वाचिक का कार्य है विभिन्न रसभावपूर्ण नाटच रचना या शब्दावली का उच्चारण करना या बोलना (संवादों का पाठन)। आहार्य का कार्य है नेपथ्यरचना (साजसज्जा) करना तथा सात्विक का कार्य है चेहरे पर प्रकट होने वाले आन्तरिक भावों के सभिव्यंजक स्वेद आदि का प्रस्तुतीकरण। अभिनवगुप्त का मत है इन चार अभिनयों में वेष-भूषा रूप आहार्य अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में अन्तरंगता

---

१. स्वरसादोऽ—ग०, घ०।

२. येषु नाटचं प्रतिष्ठितम्—क०; विज्ञेया नाटचकर्मणि—ख०।

धर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः[1] स्मृतः ।

दो धर्मी होते हैं—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी[1] ।

चार वृत्तियाँ—

भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ॥ २५ ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

तथा (१) भारती, (२) सात्त्वती, (३) कैशिकी और (४) आरभटी नामक चार वृत्तियाँ[2] हैं जिन पर नाट्य-प्रयोग निर्भर है ।

सूचित होती है अतः यह उपयोगिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण (माना जाता) है । कारिका में आये हुए 'नाटचसंश्रया' पद का अभिप्राय यह है कि लोक में सहज परिचित होने के कारण इसका चाहे उपयोग न भी हो किन्तु नाटच-प्रयोग में यह (आहार्य अभिनय) प्राणस्वरूप होता है । (आङ्गिक अभिनय का विस्तृत विवरण ना० शा० अध्याय ८ से १२, वाचिक का विवरण ना० शा० अ० १५–१७, आहार्य अभिनय का विवरण ना० शा० अध्याय २३,२४ तथा सात्विं अभिनय का विवरण ना० शा० अ० २३, २४ में है) ।

१. धर्मी का अर्थ है स्वभाव या परम्परानुकूल कार्य । जब अभिनय लौकिक उपयोगी तथा प्रतिष्ठित सामयिक परम्पराओं [धर्मों] का अनुगमन करता है तो इस आधार पर उसे लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी कहा जाता है । अभिनय के अनुगामी होने से धर्मियों का उल्लेख अभिनय-कथन के बाद किया गया । संक्षेप में लोक के सहज जीवन का अनुकरण करने वाला अभिनय किया जाए तो उसे लोकधर्मी तथा शास्त्रीय पद्धति से जब स्त्रीपात्र पुरुष का या पुरुषपात्र स्त्रीपात्र का रूपधारण कर अभिनय करे तो उसे नाटचधर्मी कहते हैं । लोकधर्मी और नाटचधर्मी का लक्षण ना० शा० अध्या० १।४ में (७०–७४) द्रष्टव्य ।

२. वृत्तियों का सम्बन्ध अभिनय की पद्धति से रहता है अभिनय अभि-नेतव्य के बिना सम्भव नहीं है । रूपकों के दस प्रकारों को विविध शैलियों में प्रस्तुत करने के कारण वृत्तियों का रूपकों से सम्बन्ध होने से ये वृत्तियाँ रूपकों की उपकारक हैं । (अ० भा०)

---

१. धर्मी तु द्विविधा स्मृता– ।

प्रवृत्तियाँ—

आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोढ्रमागधी ॥ २६ ॥
पाञ्चाली[1] मध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ।

(१) आवन्ती, (२) दक्षिणात्या, (३) औढ्रमागधी, (४) पांचाली तथा (५) मध्यमा को प्रवृत्तियाँ[1] जानों ।

सिद्धियाँ—

दैविकी[2] मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥ २७ ॥

नाट्य प्रयोग में प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ[2] दो प्रकार की होती हैं (१) दैवी तथा (२) मानुषी ॥ २७ ॥

स्वर[3]—

शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।
[[3]निषादर्षभगान्धारमध्यपञ्चमधैवताः ॥]

षड्जादि सात स्वरों के शारीर तथा वैणव भेद से दो प्रकार (वर्ग) होते हैं । (सात स्वरों के नाम हैं :—निषाद, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा षड्ज)

---

१. प्रवृत्तियाँ—देश के आधार पर होने से इनका उल्लेख वृत्तियों के पश्चात् किया गया । इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध विविध प्रदेशों से रहता है ।

२. अभिनय की परिसमाप्ति सिद्धि में होने से प्रवृत्तियों के बाद सिद्धियाँ कही गयीं । (सिद्धियों का वर्णन ना० शा० अध्याय २७ पर द्रष्टव्य ।)

३. पाठ्य या वाचिकअभिनय में स्वर का विवरण दिया गया है तथा इसी के गीत आदि प्रकार हैं अतः स्वर का पाठ्य तथा गान में अन्तर्भाव हो सकता है परन्तु स्वरों का स्वतन्त्र ग्रहण करने का अभिप्राय है कि केवल स्वरों के प्रयोग से भी नाट्यप्रयोग में सौन्दर्य परिलक्षित हो जाता है जो अन्तरालाप के नाम से प्रसिद्ध हैं । अतएव अन्तरालाप के ग्रहणार्थ यहाँ स्वरों का उद्देश्य-कथन में पृथक् ग्रहण किया गया । (अ० भा०)

---

१. पाञ्चाल मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तयः—ग०, घ० ।
२. देवीति—क० । ३. एतत्पद्यार्धं ग—पुस्तके नास्ति ।

आतोद्य प्रकार—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २८ ॥
चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

आतोद्य[1] (वाद्यवृन्द) के चार प्रकार होते हैं—यथा (१) तत[2], (२) अवनद्ध, (३) घन तथा (४) सुषिर ॥ २८–२९ ॥

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धन्तु पौष्करम् ॥ २९ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

---

१. आतोद्य–'आतुद्यते इति आतोद्यम्' इस व्युपत्ति के अनुसार वाद्यों को आतोद्य कहा जाता है; क्योंकि ये हाथ आदि से ताडित होते हैं। वाद्य-यन्त्रों के केवल चार ही प्रकार नहीं होते, वे अनन्त हो सकते हैं; परन्तु लक्षणों से युक्त वाद्यों के चार प्रकार या कोटियाँ ही होगीं। लोकवाद्यों के प्रकार अनन्त होने से उन्ही से शास्त्रीय वाद्यों की चार कोटियों का यहाँ विभेद दिखलाया गया है अतएव मल्लक, पट फलक, ज्वालामुख तथा पक्षवाद्य (खंजरी) जैसे अभिनय के समय प्रचलित लोकवाद्यों का शास्त्रीय वाद्यों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। (अ० भा०)।

स्वर तथा आतोद्यविधान का विवरण ना० शा० अध्याय २८ पर भी द्रष्टव्य।

२. वीणा आदि में तन्तुवाद्यों के माध्यम से स्वर निकाला जाने से वे तत वाद्य कहलाते हैं। चर्मविष्टित वाद्य 'अवनद्ध' कहलाते हैं। इन्हें मेघ के अनुकरण पर बजाये जाने के कारण 'पौष्कर' भी कहा जाता है। पुष्करावर्तक मेघ के देवता हैं। उनके द्वारा अधिष्ठित होनेवाला, कमल पत्र के आकार वाला चमड़े से मढ़ा हुआ (मृदंग आदि) वाद्य 'पौष्कर' कहलाता है। काल की समता के लिए तालानुसारी पीटा जाने वाला वाद्य 'घन' कहलाता है, यह ताल की समता की दृष्टि से बजाया जाता है। काँसे से निर्मित घण्टा, घडियाल, झांझ आदि वाद्य ताल देने में अनुपम प्रमाण वाले माने जाते हैं और ये स्वर एवं वर्णों के उत्पादक होते हैं, अतः इन्हें 'ताल' कहा गया है। छिद्र युक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं। काहल आदि वाद्य सुषिर वाद्य नहीं हैं यह बतलाने के लिये कारिका में 'वंश एव च' कहा गया है :

तत उस वाद्य को कहते हैं जिसमें तार हों, पीटा जाने वाला तथा चारों ओर मढ़ा हुआ पुष्कर वाद्य 'अवनद्ध' कहलाता है, तालोपयोगी मजीरा आदि ठोंककर बजने वाले वाद्य 'घन' तथा बासुरी आदि फूँक कर बजने वाले वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं।

ध्रुवागान के पाँच प्रकार—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[1] ॥ ३० ॥
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ।

'ध्रुवा[1] के संयोग से होने वाला गायन पाँच प्रकार का होता है—यथा–(१) प्रवेश (२) आक्षेप (३) निष्क्राम (४) प्रसादिक तथा (५) आन्तर।

चतुरस्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यस्रश्च कीर्तितः ॥ ३१ ॥

मण्डप[2] या प्रेक्षागृह के तीन प्रकार हैं—(१) चतुरस्र (२) विकृष्ट तथा (३) त्र्यस्र।

---

१. गान के पाँच प्रकारों में जो पात्रों के मञ्च पर प्रवेश करते समय उनके भाव; प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक गान गाया जाए वह 'प्रवेशक' गान कहलाता है। प्रविष्ट हुए पात्र की आन्तरिक चित्तवृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रकट करने लिये जो गीत गाया जाता है वह 'प्रासादिक' गान कहलाता है। प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करवाने वाला 'आक्षेप गान' कहलाता है और पात्र के रङ्गमञ्च से निष्क्रमण करते समय गाया जाने वाला 'निष्क्राम गान' कहलाता है। ध्रुवा कहते हैं गीत के आधारभूत निर्धारित पदसमूह को ['ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः' अभि०]। ध्रुवा में योग अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण (लोक) साधारण गानरूप गान्धर्व संगीत से इस गान का प्रधानतायुक्त या विशेषगान होने के कारण (ही) यहाँ स्वतः विभेद (हो जाता) है।

२. पात्रों की गतियों (आना, जाना आदि क्रियाओं) में, अभिनयों में तथा गायन और वादन में प्रेक्षागृह की उपयोगिता होती है और मण्डप अपने श्रेणी विभाग (रंगशीर्ष, रंगपीठ, नेपथ्यगृह आदि रूपों) के द्वारा पात्रों के अभिनय आदि कार्यों का उपकारक होता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि रंग

---

१. प्रासारिकमथा परम्—ग०।

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो[1] नाट्यसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार मैंने आपको संक्षेप में (सूत्र रूप में) समस्त 'नाट्य' विषयक संग्रह बतलाया (जो कि संक्षिप्त या सूत्रात्मक प्रकार से है) अब मैं सूत्र[1] (लक्षण) तथा ग्रन्थ (भाष्य) द्वारा विषयों का विवरण प्रारम्भ करता हूँ ।

रस-निरूपण—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यामः ।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः[2] प्रवर्तते ।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

सर्वप्रथम[2] हम रसों की ही (विशेष) व्याख्या करेंगे । क्योंकि रस के बिना (अन्य नाट्यांग रूप) अर्थ की प्रवृति नहीं[3] होती । (इसलिए प्रथम उसे ही बतलाते हैं) **विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के** *संयोग से रस निष्पन्न होता है ।*

के अन्तर्गत श्रेणीविभाग (अर्थात् रंगशीर्ष, नेपथ्य आदि के) आ जाने से यहाँ कक्ष्याविभाग का पृथक् कथन नहीं किया गया । (तथा कक्ष्याविभाग का विषय ना० शा० अध्याय १३ में विस्तार से दिये जाने से भी यहाँ कथन नहीं किया गया है ।)

१. संग्रह में नाट्याङ्गों का सूत्ररूप (संक्षेप) में (उद्देश्य तथा विभाग दो रूपों में) कथन करने के बाद और कारिका के द्वारा सूत्ररूप में कथन हो चुकने पर अब यहाँ 'सूत्र' रूप में अभिहित नाट्यांगों की लक्षण तथा भाष्य रूप में व्याख्या की जाएगी । 'ग्रन्थ' भाष्य है उनके द्वारा होने वाला विकल्पन 'निरुक्त' है । इससे आक्षेप-समाधानरूपा 'परीक्षा' की प्रतीज्ञा की गयी है ।

२. मूल के 'तावत्' पद क्रम का सूचक है तथा 'अभिव्याख्यास्यामः' का अर्थ है विभज्य (अलग अलग करके) व्याख्यान करना ।

३. रस को प्रथम स्थान देने के लिये मूल में 'नहि' पद दिया गया है । क्योंकि रस के बिना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि में नहीं आ (सक) ते हैं और रस से बिना आनन्दपूर्वक कृत्यों में प्रवृत्ति तथा अकृत्यों से निवृत्ति

---

१. व्यादिष्टो—ग० । २. कश्चिदप्यर्थः—ग० ।

अभिनवभारती[1]—

एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेव। येऽनुभावा

रूप उपदेश या ज्ञान रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती तथा (इस) रस के (ही) प्रति आदर बुद्धि रखने वाले और केवल रसनात्मक प्रतीति में आनन्द का अनुभव करने वाले सामाजिक रस से भिन्न भाव आदि का स्पष्टतः ग्रहण नहीं करते हैं। और क्योंकि स्थायीभाव के रूप में समस्त अचेतन वर्ग की विभावादि रूप अन्य प्रतीतियों (चित्तवृत्तियों) से उपकृत प्रधान चित्तवृत्ति के अन्तर्गत रूप से ही अचेतन विभावादि वर्ग की प्रतीति होती है तथा व्याख्यात, नट एवं सामाजिक की दृष्टि से (भी) रस की प्रधानता स्वीकृत है अतएव इन सभी कारणों से यहाँ रस का अभिधान सर्वप्रथम किया गया है। यहाँ रस के एकवचन में प्रयोग करने का आशय यह है कि समस्त नाटक में सूत्ररूप से स्थित रहने वाला प्रधान रस एक ही होता है और उसी के अन्तर्गत अवान्तर रस रूप विभाग होते हैं। ये विभाग उस प्रधानरस के आश्रित या मुखापेक्षी होते हैं।

रसनिष्पत्तिः—

१. नाट्यशास्त्र (के मूल) में 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' शब्दों का स्पष्ट व्याख्यान या लक्षण नहीं दिया गया और न ही रस-लक्षण में स्थायी भाव का समावेश किया गया। इसी कारण 'नाट्य-शास्त्र' की परवर्ती व्याख्याओं को विभिन्न मत प्रस्तुत करने का अवसर मिल गया तथा इसी कारण भटलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्य-शास्त्र पर अपनी मान्यताओं का निर्वचन प्रस्तुत किया। 'रसनिष्पत्ति' पर इन्हीं विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं का आपेक्षित वर्णन देने की दृष्टि से हम यहाँ अभिनव भारती के मूल अंश और उसके अविकल अनुवाद को भी दे रहे हैं।

(सम्पा०)

व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवदन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी [भव] त्वनुपचितः। स चोभयोरपि मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलाद् इति।

इस प्रकार उद्देश्य में क्रम (रखने) के कारण को बतला कर अब रस विषयक लक्षण का सूत्ररूप में अभिधान कहते हैं 'तत्र' इत्यादि से।

'उनमें विभाव अनुभाव तथा संचारी (व्यभिचारि) भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।'

उत्पत्तिवाद—

भट्टलोल्लट *आदि ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है— विभावादि के साथ जो स्थायीभाव का संयोग होता है उसी से रसनिष्पत्ति (अर्थात् उत्पत्ति) होती है। उनमें स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में विभाव कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य कटाक्षादि स्वरूप अनुभाव नहीं लिये गये हैं क्योंकि उनकी गणना रस के कारणों में नहीं की जाती है किन्तु भावों की ही की जाती है। और जो अनुभाव और व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने के कारण यद्यपि (एक ही क्षण में) स्थायीभाव के साथ नहीं रह सकते किन्तु यहाँ रत्यादि स्थायीभाव के साथ वासना (संस्कार) रूप में निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रह सकते हैं, यह स्पष्ट है।*

रस के उत्पादन हेतु भरत द्वारा दिये गये दृष्टान्त में भी व्यंजन आदि के बीच में किसी की स्थायीभाव के समान वासनात्मक (अनुद्भूत) और कुछ की व्यभिचारिभाव के समान उद्भूत रूप में स्थिति होती है इसीलिये विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है। केवल स्थायीभाव परिपुष्ट नहीं होता और वह दोनों [अनुकर्त्ता और अनुकार्य) में रहता है। मुख्यरूप से वह अनुकार्य

रामादि में तथा रामादिरूपता की प्रतीति करवाने के कारण गौण रूप में अनुकर्ता [नट] में भी अनुसन्धान के बल से अवस्थित रहता है।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि। 'रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेने' ति (काव्यादर्शे २-१८१)। 'अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः' (का० दर्श० २-२८३) इत्यादि च।

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्, स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः; हास्यरसे षोढात्त्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तु मान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च। तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।

दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही मत है। इसीलिये दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक अलङ्कार-ग्रन्थ में कहा है कि—'रूपबाहुल्य (उपचय) के कारण 'रति' (स्थायीभाव) शृङ्गार रस को प्राप्त कर जाती है' तथा 'अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होने पर क्रोध [स्थायी भाव] रौद्ररसरूपता को प्राप्त करता है।' इत्यादि भी।

अनुमितिवादः—

यह सिद्धान्त [अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायीभाव को रस मान लेना] ठीक नहीं है। **श्रीशङ्कुक** का कहना है कि विभावादि के योग के

बिना [या उसके अभाव में] स्थायीभाव के अनुमापक हेतु के न होने के कारण स्थायीभाव की प्रतीति नहीं हो सकती और यदि शब्द से स्थायीभाव की परोक्ष प्रतीति मानें तो विभावादि के प्रयोग के पूर्व भावों को अभिधेय मानना पड़ेगा तथा विभावादि के प्रयोग के पूर्व भी रस की स्थिति [या रस की विद्यमानता] को मानें तो अन्य लक्षणों की आवश्यकता ही न रहेगी, और यदि [रत्यादि स्थायीभाव की मात्रा में न्यूनाधिक्य या तारतम्य को सम्भव मानें तो] रस में मन्द, मन्दतर, मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे। और हास्यरस में स्थायी के तारतम्य से जो छः भेद किये गये हैं उन छः भेदों का अभाव प्राप्त होने लगेगा; और यदि स्थायी के तारतम्य से रसभेद मानें तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस भाव मानने पड़ेंगे; और शोकादि स्थायीभावों में आरम्भ में शोक तीव्र होता है और बाद में क्रमशः मन्द होता जाता है तथा क्रोध, उत्साह और रति आदि स्थायी भावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि पोषक सामग्री के अभाव में ह्रास दिखाई देता है। इसलिये उपचय के स्थान पर उपचय रूपी विपर्यय के प्राप्त होने के कारण उपचित स्थायीभाव रस होता है यह कथन उचित नहीं हैं।

और इसीलिये कारण रूप विभावों, कार्य रूप अनुभावों तथा सहकारी रूप निर्वेदादि व्यभिचारिभावों के द्वारा (नट के अपने अभ्यास, शिक्षा आदि रूप में) प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम से न प्रतीत होने वाले [कारण, कार्य, सहकारीरूप विभावदि से] कारण या चिह्न की सामर्थ्य द्वारा अनुकर्त्ता [नट] में स्थित रूप के द्वारा अनुमान से प्रतीत होने वाला मुख्य [अनुकार्य] राम में विद्यमान रहने वाला रत्यादि स्थायीभाव का यह अनुकरणरूप होता है तथा इसी अनुकरणरूप होने के कारण ही यह स्थायीभाव उससे भिन्न नाम के द्वारा व्यवहृत होता है। यही भिन्न नाम से व्यवहार किया जाने वाला पदार्थ 'रस' है।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः, अनुभावाः शिक्षातः, व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्, स्थायी तु काव्यबलादपि

नानुसन्धेयः। रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयी-कुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयरूपतयावगमयन्ति।

न हि वागेव वाचिकं, अपि तु तया निर्वृत्तं, अङ्गैरिवाङ्गिकम्। तेन—

'विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि।
वाडवनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते' इति,

तथा—

'शोकेन कृतस्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः।
हृदयस्फुटनभयार्तै रक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः'

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयोऽपि त्वभिधेयः।

'भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि। (रत्ना २–११)

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधतोदयनगतः सुखात्मा रति-स्थायी (यि ?) भावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभि-नयनं, वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्ति-कमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वञ्च युक्तम्।

विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारिभावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के द्वारा अनुसन्धान (प्रतीति) होता है, परन्तु स्थायीभाव काव्य-बल से भी प्रतीत नहीं होता। रति, शोक आदि शब्द रति तथा शोक आदि विषयों का अभिधा शक्ति के द्वारा [परोक्षरूप में] कथन करते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में उनको बोधित नहीं करते।

क्योंकि वाणी का नाम वाचिक अभिनय नहीं होता किन्तु उस वाणी

के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक कहलाता है। जैसे अंगों से किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक होता है। अतएव

जैसे अतिशय बढ़े हुए, अगाध तथा अनन्त होने पर भी समुद्र को वाडवाग्नि पी जाती है उसी प्रकार (अतिशय बढ़े हुए, अगाध तथा अनन्त होने पर भी) शोक को क्रोध नष्ट कर देता है।

यहाँ, तथा—

शोक के कारण चेष्टाहीन एवं निरन्तर क्रन्दन करते हुए ऐसा पड़ा हुआ है कि कहीं इसका हृदय न विदीर्ण हो जाए, इस आशंका से भयभीत मन्त्री केवल उसके संरक्षण की (ईश्वर से) प्रार्थना कर रहे हैं।

इत्यादि उपर्युक्त उदाहरणों में शोक अभिनेय नहीं है, किन्तु यहाँ वह स्वशब्द वाच्य होने से अभिधेय है। (परन्तु)—

चित्र-निर्माण की वेला में उस चित्र पर उसके आँसुओं के जो कण गिरे वे उसके हस्तस्पर्श के द्वारा मेरे शरीर में आए हुए स्वेद के समान शोभित हो रहे हैं। (र० २।११)

इस पद्य से उसके वाच्यार्थ से भिन्न उदयनगत सुखस्वरूपा रति स्थायीभाव का यहाँ अभिनय किया जा रहा है, शब्द से अभिहित मात्र नहीं किया जा रहा। शब्द की वाचकशक्ति से भिन्न बोध करवाने वाली अन्य शक्ति अभिनय है। इसीलिये स्थायीभाव की प्रतीति अभिनय के द्वारा होने से विभाव-अनुभाव आदि के साथ सूत्र में स्थायीभाव का भिन्नविभक्ति में भी प्रयोग नहीं किया गया है [आशय यह कि उपचित स्थायीभाव रस नहीं होता, अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त करता है] और इसीलिये अनुक्रियमाण रति ही शृङ्गाररस होती है। अतएव उसका स्थायीभावरूप (तदात्मकत्व) और स्थायीभावमूलक (दोनों) होना (तत्प्रभवत्व) उचित है।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति' इति।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद्वा न वायमिति, न

चापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः, असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

'प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥' इति।

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथा हि—अनुकरणरूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत नटाभिप्रायेण। किं वा वस्तुवृत्तिविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्तीति'। अथ भरतमुनिवचनानुसारेण?

मिथ्याज्ञान से भी (रसास्वादादि रूप) अर्थ को व्यक्त करने वाली क्रिया या फल-प्राप्ति देखी जा सकती है। (जैसे—)

मणि और प्रदीप के समान प्रभा को देखकर और उसे मणि समझ कर लेने के लिये दौड़ने वाले दो व्यक्तियों में मिथ्याज्ञान के समान होने पर भी फलप्राप्ति [अर्थक्रिया] में भेद पाया जाता है।

और यहाँ नर्तक ही सुखी है यह प्रतीति नहीं होती और न यही राम है इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती, न यह सुखी नहीं है यह प्रतीति होती है और नहीं यह राम है या नहीं इस प्रकार की और नहीं यह उसके समान है इस प्रकार की प्रतीति होती है। किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य (इन) रूप समस्त प्रतीतियों से विलक्षण (भिन्न प्रकार की) 'जो सुखी राम है वह यह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। जैसा कि निम्न दो कारिकाओं में बतलाया भी गया है :—

न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थ स्थिति की और न भ्रान्ति की प्रतीति होती है। यही वह है ऐसी बुद्धि भी नहीं होती और यह

वह नहीं है ऐसा भी लगता है। इसलिये विरुद्ध प्रतीतियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक् स्वरूप में भ्रम आदि का तात्त्विक निर्णय न होने के कारण उस पुरःस्फुरित अनुभव को कैसे भ्रम आदि कहा जाए यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

आचार्य भट्टतोत के मत से शंकुक का यह अनुकरणवाद सारहीन सिद्धान्त है जो परीक्षाकाल में टिक नहीं सकता। क्योंकि यदि रस को [शंकुक की तरह] अनुकरणरूप कहा जाए तो यह सामाजिक के अभिप्राय से कहा जा रहा है या नट के अभिप्राय से अथवा वस्तु तथा वृत्त का विवेचन करने वाले व्याख्याताओं के अभिप्राय से कहा जा रहा है?। कहा जाता है कि व्याख्याताजन रससूत्र की इस प्रकार विवेचना करते हैं। या फिर भरतमुनि के वचनों के अनुसार स्थायीभाव के अनुकरण को रस कहा जा रहा है?

आद्यः पक्षोऽसङ्गतः। किञ्चिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति शक्यं वक्तुम्। यथा, 'एवमसौ सुरां पिबतीति' सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति, इह च नटगतं किं तदुपलब्धं तदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं, तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि, रोमाञ्चकगद्गदकादिभुजाक्षेपवलनप्रभृति भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपतयानुकारत्वेन कस्यचित् प्रतिभाति। जडत्वेन, भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात्। मुख्यामुख्यावलोकने च तदनुकरणप्रतिभासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन 'रामानुकारी नटः' इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

(इनमें उपाध्याय के अनुसार) यहाँ प्रथमपक्ष असंगत है। क्योंकि अनुकरण वह कहा जाता है जो किसी वस्तु के प्रमाण से गृहीत होता हो। जैसे 'इस प्रकार यह मदिरा पान करता है' कह कर कोई दूध पीता है तो यहाँ मदिरा-पान के अनुकरणरूप में दुग्धपान प्रत्यक्ष अवलोकित हो रहा है। पर यहाँ अभिनय के अन्तर्गत रस के प्रसंग में अभिनेता में ऐसी कौन

सी बात देखी जाती है जो प्रमाणरूप में उपलब्ध होने के कारण अनुकार्य के अनुकरणरूप में प्रतीत होती हो यह विचारणीय है। क्या उसका शरीर अथवा उसके शरीर पर स्थित मुखोटे (प्रतिशीर्षक) आदि अथवा रोमांच गद्गद आदि या भुजाक्षेप, वलन आदि और भ्रूकटाक्ष आदि रति आदि चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव के अनुकरणरूप में किसी को भासित नहीं हो सकते ? (प्रतिशीर्षक से कटाक्षादि पर्यन्त) सभी वस्तुओं तथा अनुभावों के जड़ होने से, दूसरों की इन्द्रियों से गृहीत होने तथा आधार की भिन्नता के कारण यह सब उन रत्यादि स्थायीभावों से विलक्षण हैं। दूसरे मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] का विचार कर दोनों को देखने पर यह इसका अनुकरण है, यह प्रतीत होता [प्रतिभासित होता] है। परन्तु यहाँ रामगत रति [मुख्य अनुकार्य रूप] का किसी सामाजिक ने प्रथम साक्षात्कार नहीं किया अतः नट राम का अनुकरण करता है यह मत [अनुकरणरूप न होने के कारण] निरस्त हो जाता है।

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते, तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयते इति चिन्त्यम्।

ननु प्रमदादिभिः कारणैः कटाक्षादिभिः कार्यैः धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिङ्गभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या, तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृत्तिः प्रतिभाति। हन्त ! तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणतावाचोयुक्तिः।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः, इह त्वनुकर्त्तरि न तथेति विशेषः। अस्त्वेवम्; किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचारिरूपा अपि काव्यशिक्षादिबलोपकल्पिताः कृत्रिमाः सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा ? यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः ?

तब श्रीशङ्कुकपक्ष की ओर से यदि यह कहा जाए कि नटगत रत्यादि चित्तवृत्ति ही प्रतीत या ग्रहण होने पर रति का अनुकरणरूप शृङ्गार रस है तो उपाध्याय-पक्ष पूछता है कि किस रूप में उसकी प्रतीति स्वीकार की जाएगी इसका यहाँ विचार करना होगा।

और यदि यह कहा जाए कि प्रमदादि विभावरूप कारणों, कटाक्षादि अनुभावरूप कार्यों तथा धृति आदि व्यभिचारिभावरूप सहकारियों के चिह्नों [हेतुओं] से विभावादि कारणों से कार्यरूप, अनुभावादि कार्यों से कारणरूप तथा व्यभिचारीभाव के सहकारीरूप से जो लौकिक चित्तवृत्ति साक्षात्कार की योग्यता ले लेती है उसी रूप में नट की चित्तवृत्ति प्रेक्षकों को प्रतीत या प्रतिभासित होती है [और यही रत्यादि-प्रतीति रस है]। [यदि यही माना जाए तो] ऐसी स्थिति में रतिरूप में (ही) उसकी गृहीति न मान कर रति की अनुकृति के रूप में उसकी स्वीकृति का कथन कहाँ तक उपयुक्त होगा यही दुःख की बात है।

अच्छा, अनुकार्य में जो आलम्बन—उद्दीपन आदि विभाव उपस्थित होते हैं वे वास्तविक हैं किन्तु यहाँ प्रयोगकर्त्ता नट [अनुकर्त्ता] में वैसे (वास्तविक विभावादि) प्रतीत नहीं होते यही दोनों में भेद या वैशेष्य है। और यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो वे विभाव आदि उस नटगत रति के विभाव [कारण], अनुभाव [कार्य] तथा व्यभिचारिभाव [सहकारी] न होते हुए भी काव्य तथा शिक्षा आदि से उपकल्पित होने के कारण वास्तविक विभावादि की अपेक्षा कृत्रिम होने पर सामाजिकों के द्वारा विभावादि के रूप में प्रतीत होते हैं अथवा नहीं? और यदि सामाजिक के द्वारा वे कृत्रिमरूप से ही ग्रहण किये जाते हैं तो उसे कृत्रिम साधनों से वास्तविक रति का उद्बोध कैसे हो सकता है?

नन्वत एव प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धेः कारणम्। तन्न। कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्। असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिकविशेषाद् गोमयस्यैवानुमानम्। तत्परं मिथ्याज्ञानम्।

यत्रापि लिङ्गज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानमयुक्तम्। नहि बाष्पाद्धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात् तदनुकारानुमानं युक्तम्। धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा।

(और शंकुकपक्ष की ओर से पुनः कहा जा सकता है कि) इसलिये तो कृत्रिम साधनों से ज्ञात रति अनुकरणात्मक रत्यादि की बुद्धि का कारण होती है। [यह अनुकरणात्मक रति आदि की प्रतीति ही रस मानी जा सकती है]। यह ठीक नहीं है। (प्रसिद्ध कारणों से भिन्न) कारणों से उत्पन्न कार्यों में उनका ज्ञान होने पर उस विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति के द्वारा दूसरी वस्तु का प्रसिद्ध कारणों को छोड़कर ठीक अनुमान करना उचित हो सकता है। पर साधारणपुरुष के द्वारा तो उसी प्रसिद्ध कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे किसी विशेष बिच्छू को देखकर उसके कारणभूत विशेष गोबर का अनुमान करना। ऐसा करना सामान्य पुरुष के लिये मिथ्याज्ञान होगा।

और जहाँ धूलिपटल में धूमादि लिङ्ग का मिथ्याज्ञान होता है वहाँ भी अन्य वस्तु (अग्नि) का आभास मानना उचित नहीं। क्योंकि वाष्प के धूम के समान ज्ञात होने पर भी ज्ञात वस्तु से अनुकरण में समान लगने वाली वस्तु से उसके समान बनावटी वस्तु का अनुमान किया जाए तो यह अनुचित होगा। अथवा धूम के समान प्रतीत होने वाले कुहरे से अग्नि के समान आकार रहने के कारण अग्निवत् प्रतीत होने वाले जपापुष्प की प्रतीति अनुमिति हो जाए [तो यह भी अनुचित होगा]

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव प्रतिभाति। सत्यम्। क्रुद्धेन सादृश्यं च भ्रुकुट्यादिभिः, गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति। नैतावतानुकारः कश्चित्। चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति। सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते, अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचोयुक्तिः।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिस्तदपि यदि तदात्वेति

निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कतं न तत्त्वज्ञानं स्यात्। बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्धि (द्वय) संभेदादित्यसत् नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्।

यच्चोच्यते विभावाः काव्यादनुसन्धीयन्ते, तदपि न विद्मः न हि ममेयं सीता काचिदिति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते, तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात्। तस्यैव हि मुख्यत्वेनास्मिन्नयमिति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः।

(पूर्व पक्ष) क्रुद्ध न होने पर भी अभिनेता क्रुद्ध सा प्रतीत होता है। [अर्थात् वह स्वयं क्रुद्ध न होकर क्रुद्ध पुरुष के क्रोध का अनुकरण कर रहा है। इसीलिये रत्यादि के अनुकरण को रस माना जाता है] **(उत्तर पक्ष)** ठीक है। वह क्रुद्ध के सदृश प्रतीत होता है और यह सादृश्य भ्रुकुटि आदि के द्वारा होता है; जैसे गौ का नीलगाय के साथ मुखादि के द्वारा सादृश्य होता है। [परन्तु इस सादृश्य से अनुकरणात्मकत्व सिद्ध कैसे होगा ?] और सामाजिक को राम के सादृश्य की वास्तव में प्रतीति (ही) नहीं होती है। परन्तू उनकी नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति नहीं मानी जा सकती है तो फिर उस रत्यादि के अनुकरण के प्रतिभास (प्रतीति) का अभिधान सारहीन है।

यदि यह कहा जाए कि 'यह राम है' ऐसी नट को देख कर प्रतीति होती है तो इस प्रतिपत्ति के उत्तरकाल में बाधक का अभाव होने से उसकी तात्त्विक प्रतीति क्यों नही मानी जाए ? और बाध होने वर उसे मिथ्याज्ञान क्यों नहीं माना जाए ? इसके अतिरिक्त वास्तविक दृष्टि से आख्यान वस्तु में बाधक के अनुपस्थित होने पर भी मिथ्या ज्ञान होगा। अतएव दो विरुद्ध बुद्धियों के सम्बन्ध के कारण यह कहना भी असंगत होगा। अन्य अभिनेता में भी 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतिपत्ति होती है; अतः

रामत्व एक सामान्य रूप है यही सिद्ध होता है। [आशय यह है कि जैसे ब्राह्मणत्व एक सामान्यधर्म है और उससे युक्त सभी ब्राह्मण होते हैं इसी प्रकार 'रामत्व' विशिष्ट या वैयक्तिक धर्म होकर भी आदर्श-व्यक्तित्व के कारण सामान्य धर्म हो जाने से अनेक अभिनेताओं में 'रामत्व' की प्रतिपत्ति या भान हो सकता है।]

और जो यह कहा जाता है कि 'काव्य के द्वारा विभावों का (उपस्थापन या) अनुसन्धान किया जाता है यह भी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'यह मेरी सीता है' ऐसी किसी नट को प्रतीति नहीं होती। यदि 'काव्य के द्वारा विभावादि सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाए जाते हैं और ऐसा करना ही अनुसन्धान होता है' ऐसा माना जाए तो उनकी अपेक्षा स्थायीभाव के विषय में वह अनुसन्धान और अधिक उचित होगा। क्योंकि इस स्थायीभाव के ही मुख्य होने से 'इस राम में यह रत्यादि स्थायीभाव हैं' ऐसी ही सामाजिकों को प्रतिपत्ति होती है [अतः रत्यादि को ही रस मानना उचित होगा इनके अनुकरण को नहीं।]

यत्तु वाग्वाचिकमित्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयानभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे (अ० १४) चर्चयिष्यते। तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः 'रामं तच्चित्तवृत्तिं वानुकरोमी'ति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणमनुकरणम्, तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मतातिप्रसक्ता।

अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः, अपि तूत्तमप्रकृतेः शोकमनुकरोति। तर्हि केनेति चिन्त्यं न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्।

न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्।

इयत्तु स्यात्–उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावाःताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः यस्य कस्य चिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां

विना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

और श्रीशङ्कुक महोदय ने जो वाग् और वाचिक का भेद प्रदर्शित करते हुए अपनी अभिनय की विशेषज्ञता को प्रस्तुत किया है उसकी हम आगे (अध्याय १४ में) यथावसर विवेचना करेंगें। अतएव सामाजिक की प्रतीति के अनुसार 'स्थायीभाव का अनुकरण रस कहलाता है' यह मानना ठीक नहीं है।

और न नट को इस प्रकार की प्रतिपत्ति (अनुभव, बोध) ही होती है कि मैं राम की चित्तवृत्तियों का अनुकरण कर रहा हूँ यदि सदृश करण अनुकरण है तो जिसे प्रकृति (अनुकार्य) का ज्ञान नहीं है वह उसका अनुकरण नहीं कर सकता। और यदि पश्चात् करण अनुकरण है तो लोक में वैसी अनुरणात्मकता अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त हो जाएगी [अर्थात् लौकिक इत्यादि के अनुकरण को देखने पर भी रस की अनुभूति मानी जाने लगेगी]

और यदि यह कहा जाए कि अनुकरण किसी विशेष (नियत) व्यक्ति का न हो कर सामान्यतः उत्तम प्रकृति का होता है और नट अपने शोक से उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है तो यह किस साधन से अनुकरण करता है यह विचारणीय है। यदि यह कहा जाए कि नट शोक से अनुकरण करता है तो उसे वास्तव में कोई शोक नहीं होता [अनुकर्त्ता में शोक का अभाव है]। और वह अश्रुपात आदि से शोक का अनुकपण करता है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुकरण का स्वरूप विलक्षण होता है [अर्थात् शोक मानस चित्तवृत्ति भूत है और अश्रुपातादि दैहिक व्यापार है अतएव अश्रुपातादि से शोक भिन्न हो जाने से यहाँ स्वरूप गत विलक्षणता है]

केवल इतना कहा जा सकता है कि जो उत्तम प्रकृति के शोकगत अनुभाव हैं उनका 'मैं (नट) अनुकरण करता हूँ' ऐसी अभिनेता कल्पना कर सकता है। किन्तु इसमें भी वह किस उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है [यह निश्चित नहीं हैं] और 'जिस किसी के' ऐसा

कहा जाय तो यह भी विशेष के बिना समझना कठिन है। और यदि 'जो मुझ नट की तरह रोता है उसका मैं अनुकरण करता हूँ' ऐसा कहा जाए तो अनुकार्य की प्रतीति में नट का अपना स्वरूप भी समाविष्ट हो जाने से अनुकार्य और अनुकर्त्ता का भाव समाप्त होकर व्यर्थता प्राप्त कर लेता है।

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीतिर्नत्वनुकारं वेदयते। कान्तवेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभिः।

नापि वस्तुवृत्तत्वानुसारेण तदनुकारत्वमनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः।

न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित्स्थाय्यनुकरणं रस इति। नापि लिङ्गमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते प्रत्युत ध्रुवागानतालवैचित्र्य-लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादिविपर्यये लिङ्गमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (ना० शा० १।११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति। तदनुकारेऽपि च क नामान्तरं कान्तवेषगत्यनुकरणादौ।

और नट शिक्षा के तथा अपने विभावों के स्मरण द्वारा चित्तवृत्ति के साधारणीभाव के कारण हृदय की संवाद या एकरूपता से केवल अनुभावों का प्रदर्शन करता हुआ काव्य को अनुभावारूप उचित कण्ठध्वनि (काकु) के द्वारा उच्चारित करते हुए तदनुरूप चेष्टा करता है। केवल इतने अंश में यह प्रतीति सम्भव होती है पर यह प्रतीति अनुकरण का बोध तो नहीं करवाती। क्योंकि स्त्री के वेष के अनुकरण के समान राम की चेष्टाओं का अनुकरण नहीं हो सकता यह हमने प्रथमाध्याय में भी बतलाया है।

और न वस्तुवृत्त के अनुसार उन स्थायीभावों का अनुकरण हो सकता है। क्योंकि बाद में प्रतीत होने वाले स्थायीभावों का वृस्तुवृत्तत्व सिद्ध कैसे होगा ? जो वास्तव में वस्तुवृत्तत्व है उसे हम आगे दिखलाएँगें।

और न भरतमुनि के द्वारा ऐसा कहीं कहा गया कि 'स्थायीभाव का अनुकरण रस है'। और भरत द्वारा इस विषय में निर्दिष्ट आधार भी नहीं दिया गया जिसके आधार पर अनुमान किया जासके कि मुनि स्थायीभाप के अनुकरण को ही रस मानते हैं। इसके बजाय अभिनय के परिपोष के लिये ध्रुवा, गान, तालवैचित्र्य और लास्यांगों का निरूपण विपरीत पक्ष के समर्थन का अनुमापक बन जाता है इस बात को हम सन्ध्यङ्गों के अध्याय (ना० शा० अ० २१) के अन्त में विस्तार से दिखलाएँगे। प्रथम अध्याय में नाट्य को जो सप्तद्वीप का अनुकरण बतलाया है। उस अनुकरण की व्याख्या दूसरे प्रकार से होती है [स्थायीभाव के अनुकरण रूप में नहीं] और स्थायीभाव का अनुकरण मानने पर भी कान्ता आदि के वेश अथवा गति आदि के अनुकरण में नामान्तर की आवश्यकता कहाँ होगी [अर्थात् स्थायीभाव का अनुकरण मानने पर उसके लिये 'रस' इस दूसरे नाम का उप्रयोग कहाँ तक उचित होगा।]

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि। तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतस्तदसत्। न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव, किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते। अतएव हि सिन्दूरादयो गवावयवसन्निवेश-सदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषयः। नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्यः। तस्माद् भावानुकरणं रस इत्यसत्।

येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। साङ्ख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्याश्च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः। संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

और जो यह कहा जाय कि जैसे चित्र में हरिताल आदि रंगों के तूलिका द्वारा सम्मिश्रण से गौ आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार विभावादि के मिश्रण या संयोग से रस की उत्पत्ति हो जाती है। और विभावादिक से भिन्न उसका 'रस' यह नया नाम भी हो जाता है। इसमें यदि अभिव्यज्यमान अर्थ अभिप्रेत हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि सिन्दूर आदि रंगों से वास्तविक गौ की अभिव्यक्ति नहीं होती। जैसी प्रदीप के प्रकाश में वास्तविक गाय व्यक्त हो जाती है वैसी सिन्दूर आदि रंगों से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती केवल गाय सदृश अंगों की रचना स्पष्ट होती है। और इसलिये चित्र में सिन्दूर आदि गाय के अवयवों के सन्निवेश के समान सन्निवेशविशेष के रूप में स्थित होकर 'यह आकृति गौ जैसी है' ऐसा भान (या प्रतीति का विषय) होता है। किन्तु इस प्रकार विभावादि-समूह रति के सदृश हैं यह ग्राह्य नहीं है [या इस ज्ञान से गृहीत नहीं होते हैं] अतएव इत्यादि स्थायीभावों का रस अनुकरण होता है यह मत ठीक नहीं।

और जो यह स्वीकार करता है कि सुख, दुःख मोह को उत्पन्न करने वाली शक्ति से युक्त विषय-सामग्री बाह्य ही होती है। सांख्य दर्शन के इस सिद्धान्तानुसार संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाला [त्रिगुणात्मक] माना जाए। और उस सामग्री में दाल के स्थानीय विभाव और उनके संस्कार करने वाले छौंक के समान अनुभाव और व्यभिचारिभाव हैं और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्री से उत्पन्न आन्तरिक सुख दुःख एवं मोहरूप (रत्यादि) स्थायीभाव हैं।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि तत् कियदत्रोच्यताम्।

और उससे 'स्थायी भावों को रसत्व प्राप्त करवाएँगे' इत्यादि मुनिवचन में उपचार [लक्षणा] मान कर रसग्रन्थ के साथ अपने विरोध

को स्वयं जान कर हमारे समान प्रामाणिकपुरुषों को दोषप्रदर्शन की मूर्खता से बचा लिया इसलिये उसे कितना धन्यवाद दें । और रसप्रतीति को सुख-दुःखमोहात्मक (त्रिगुण) मानने पर एक ही ज्ञान में विरुद्ध प्रतीतियों का मिश्रण हो जाने से प्रतीतिवैषम्यादि दोष (भी) होंगें । इसलिये रस को त्रिगुणात्मक मानने के विषय में और कितना अनौचित्य दिखलावें ।

भट्टनायकस्त्वाह-रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात् । देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात् ।

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात् । न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता प्रत्यक्षादिव । नायकयुगलावभासे हि प्रत्युतलज्जा-जुगुप्सा-स्पृहादिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदयः अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम् । शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः । स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम् ।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तार-विकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिविलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति ।

भुक्ति-वाद—

भरत के एक अन्य व्याख्यता **भट्टनायक** रससूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। स्वगत रूप से [अर्थात् सामाजिक द्वारा अपने में] रस की प्रतीति मानने पर करुणरस में सामाजिक को दुःख की प्रतीति होना चाहिये किन्तु यह प्रतीति उचित नहीं है। [दुःख के मूल कारण वास्तविक] सीता आदि के विभाव रूप में उपस्थित न होने के कारण, अपनी पत्नी आदि की नाट्य-प्रसंग में स्मृति न होने के कारण, देवता आदि के विभाव होने पर उनके साधारणीकरण के अयोग्य होने के कारण और हनुमान आदि के समान विभावों के द्वारा किये गये समुद्रलंघन आदि का साधारणीकरण असंभव होने से सामाजिक को स्वगत रूप में रस प्रतीति नहीं होती।

और उस रत्यादि से युक्त राम आदि विभावों की स्मृति ही होती है क्योंकि रत्यादियुक्त राम पूर्व में उपलब्ध नहीं है। शब्द और अनुमान प्रमाणों से उस (रस) की प्रतीति मानने पर प्रत्यक्षज्ञान के जैसी सरसता नहीं रहेगी। इसलिये शब्द या अनुमानप्रमाण से रस का ज्ञान नहीं होता] और प्रत्यक्ष रूप से सम्भोगादि में रत नायक-नायिका के युगल को देखने पर रस के स्थान पर लज्जा, जुगुप्सा, स्पृहा आदि दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का उदय हो जाने से अव्यग्रता या तन्मयता न होगी और ऐसा होने पर रस प्रतीति का आकाशरस (आकाशपुष्प) के समान अभाव हो जायगा। अतएव अनुभव, स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति मानना ठीक नहीं।

और रस की उत्पत्ति मानने में भी ये सब दोष समान ही हैं [इस लिये रस की स्वगत या परगत उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती]। शक्तिरूप में पूर्वस्थित रस की विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा बाद में अभिव्यक्ति मानने पर विषयों की वृद्धि आदि से रसानुभूति में न्यूनाधिक रूप तारतम्य होने लगेगा। और फिर पहले पक्ष के समान पुनः यह विचारणीय हो जायेगा कि रसाभिव्यक्ति सामाजिक को स्वगत रूप से होती है अथवा परगत रूप से।

अतएव काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व लक्षण के कारण और नाटक में चारप्रकार के अभिनय सामाजिक के अपने अन्तःस्थित समस्त मोह तथा संकट का निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति के पश्चात् द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] होकर अनुभव तथा स्मृति आदि से भिन्न (विलक्षण) प्रकार के रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण (अनुवेध) के वैचित्र्य बल के कारण वृद्धि, (द्रुति) विकास तथा विस्तार स्वरूप सत्त्वगुण के प्राधान्य द्वारा प्रकाशमान् आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्त स्वरूप वाला एवं परब्रह्म के आस्वादन सदृश होकर यह रस भोजकत्व व्यापार के द्वारा [भोग] किया जाता है।

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लट-पक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्, सापि प्रतिपत्तिरेव। केवल-मुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यताम्। दर्शनानुमितिश्रुत्युपमिति-प्रतिभानादिनामान्तरवत्।

निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति तृतीया गतिः स्यात्। चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—प्रतीतिरस्य भोगीकरणं तच्च रत्यादिस्वरूपं, तदस्तु तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसना (रसा ?) त्मनः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनैयत्ता—

भट्टनायक का यह मत पहले किये गये भट्टलोल्लट के पक्ष के खण्डन से ही खण्डित हो जाता है अतएव उनके मत के प्रत्याख्यान (खण्डन, निराकरण) की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त प्रतीति,

उत्पति, अभिव्यक्ति के अतिरिक्त (भिन्न) संसार में भोग कौन पदार्थ हो सकता है [अर्थात् विषयवस्तु की प्रतीति अथवा उसके अनुभव को भोग कहते हैं परन्तु भट्टनायक जब रस की प्रतीति नहीं मानते तो उसका 'भोग' किस पदार्थ को माना जायेगा] यदि रसन (आस्वादन) ही भोग पद का अभिप्राय है तो यह रसना भी प्रतीति रूप ही है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण इसका भिन्न नाम रखा जा सकता है यह दूसरी बात है। जैसे साधन तथा प्रमाण भेद के कारण एक ही ज्ञान के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान तथा प्रतिभान आदि भिन्न नाम दिये जा सकते हैं। और रस की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनों ही न मानने पर वह नित्य होगा अथवा असत्। इसके अतिरिक्त उसकी अन्य गति (तीसरी स्थित्ति) नहीं है, क्योंकि जिसकी प्रतीति न होती हो ऐसी कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि रस की आन्तर प्रतीति ही भोगीकरण रूप है [उसका बाह्यरूप मान्य नहीं] और वह रत्यादि रूपा है। तो ऐसा मान लेने पर भी केवल वह नाट्यसम्बन्धी एक दोष ही तो रह नहीं जाता है [न तावन्मात्रम्]। जितने शृङ्गारकरुण आदि रस हैं उतने ही प्रकार की आस्वादन स्वभाववाली भोगात्मक प्रतीतियाँ हैं और उनके भी सत्त्व, रज, तम आदि के प्रधान-अप्रधानभागवत जो वैचित्र्य है उनके कारण रस के अनन्त भेद या व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी तब अभिधा; भावकत्व तथा भोजकत्व रूप तीन व्यापारमात्र ही कैसे स्वीकार किये जा सकेंगे [या तीन व्यापार की सीमा कैसे रह पायेगी !]

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरैः[1]॥ १॥

यत् 'काव्येन भाव्यन्ते रसा' इत्युच्यते, तत्र विभावादिजनित-

१. सिद्धिमान्नरः इति ख पुस्तके पाठः।

चर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव। यदुक्तम्—

"संवेदनाख्यया व्यङ्ग्य (स्व) परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थं उच्यते॥" इति

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम्।

एक अभिधा, दूसरी भावना और तीसरी भोगीकृतरूपा शक्ति [अर्थात् भोजकत्व] ये तीन शब्द के व्यापार माने गये हैं। उनसे पहले शब्दार्थ और अलंकार अभिधा के विषय वाच्य रूप में उपस्थित हो जाते हैं। इसके बाद दूसरे (भावना नामक) व्यापार से साधारणीकरण द्वारा जो भावित होता है वह शृङ्गारादि-समूह भी भोगीकृत रूप में भावुक सामाजिक द्वारा विशेष रूप से अनुभव किया जाता है (आप्यते) या आस्वादित होता है।

यह जो कहा जाता है कि 'काव्य में रसों की भावना की जाती है।' उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति को विषय बनाना ही यदि भावना है तो यह हमें भी स्वीकार्य है (पर इस प्रकार भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती)। और जो यह कहा गया है कि :—

"संवेदनात्मक व्यङ्ग्य पर (प्रधान) संवित्ति (दूसरे व्यक्ति की प्रत्यक्ष प्रतीति) का विषय और आस्वादनरूप में साक्षात्कृत (अनुभव किया जाने वाला) रस काव्य का प्रयोजन है।"

इनमें व्यज्यमान रूप से व्यङ्ग्य का बोध होता है और अनुभव पद से (रस या व्यङ्ग्य का अनुभव या अर्थव्यञ्जनारूप से) उसी का विषय रस है यह बोध होता है (अतएव व्यञ्जना शक्ति के अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं।)

*अभिव्यक्तिवाद—

नन्वेवं कथं रसमास्ताम्। किं कुर्मः?

तो फिर ऐसी स्थिति में रसतत्त्व कहाँ रहेगा ? (कैसे सिद्ध होगा ?)। (और इस प्रकार खण्डन होने पर रसतत्त्व तथैव विद्यमान ही रहे तो फिर) हम क्या कर सकते हैं !

क्योंकि :—

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम्।
इत्थं स्वयं ग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः॥ [क]

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम्॥ [ख]

चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम्।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठादि च विस्मयाय॥ [ग]

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥ [घ]

यह शास्त्रसिद्ध (आम्नायसिद्ध) विषय की विवेचना के विषय में कोई नयी बात नहीं है (क्योंकि वैदिकसिद्धान्त का खण्डन करने से नित्य सिद्धान्तों का खण्डन तो नहीं होता किन्तु) बुद्धि का विकास होकर (प्रतिपाद्य) वस्तु का स्वरूप अधिकाधिक प्रामाणिक और स्पष्ट होता है। अन्यथा तर्क-वितर्क से विषय का स्पष्टीकरण न हो तो जो स्वतःप्रमाण रूप बहुमूल्य रस है उसके सम्बन्ध में विरोध करने से क्या लौकिक प्रमाण दूषित नहीं होगा ? [आशय यह कि स्वतःप्रमाण वेद का विरोधी प्रमाण ही शब्दात्मक स्वतःप्रमाण वेद के सामने बाधित या दूषित हो जायेगा।] [क]

विवेचक विद्वानों की बुद्धि अधिकाधिक ऊँचे प्रदेशों पर आरोहण करने पर भी शान्ति का अनुभव नहीं करते हुए जिस अर्थतत्त्व का अन्वेषण करती है वही मुख्य है। और विवेक की प्रारम्भिक सीढ़ी परम्परागत रूप में (इसमें) सहायक होकर उस तत्त्व तक पहुँचाती है क्योंकि उनका ही यह परिणाम (फलम्) होता है। [ख]

यह आश्चर्य की बात है कि प्रमेय की सिद्धि में रचना का प्रथम आधार बिना किसी आलम्बन जैसा होता है; किन्तु एक बार आधार बन जाने पर ऊपर उनके पुलों की रचना या नगरों का निर्माण आश्चर्यजनक नहीं होता। [ग]

अतएव आरम्भ से ही प्राचीन आचार्यों के मतों में दूषण दिखला कर उनका खण्डन करना हमारा उद्देश्य नहीं है अपि तु विशेषपरीक्षा द्वारा उन्हें ही संशोधित किया गया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित मतों की विवेचना करने के कारण हमें भी मूलसिद्धान्त की स्थापना जैसा ही फल प्राप्त होता है। [अर्थात् पूर्वाचार्यों के व्याख्यान में रस-निष्पत्ति का सोपानवत् क्रमिक-विकास दृष्टिगत होने से उनका निदर्शन तथा विवेचन दोनों ही रस-सिद्धान्त की मौलिक स्थापना के आधार है।] [घ]

तद्युच्यतां परिशुद्धतत्त्वम्। उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथाह्याह "काव्यार्थान् भावयन्ती" ति (अ-७) तत्काव्यार्थो रसः। तथा हि 'सत्रमासत' 'तामग्नौ प्रादादि' त्याद्यावर्थितादि-लक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्राददतितीव्रप्ररोचितात्प्रथमप्रवृत्ता-दनन्तरमधिकेवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते प्रददातीत्यादिरूपासंक्र-मणादिस्वभावा यथादर्शनंप्रति भावनाविधिनियोगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिराम"मिति (शाकु-अ-१।७) "उमापि नीलालके" ति (कुमा-३-६२) 'हरस्तु किञ्चि' (कुमा-३-६७) दित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकापहसिततत्त-द्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति वासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितं तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

प्रश्न—तब फिर रस का परिशुद्ध या निर्दुष्ट तत्त्व (स्वरूप) क्या है ? उत्तर—यह तो भरतमुनि ने कह दिया है और वह कोई अपूर्व या नयी बात नहीं है जो कही जाय। जैसा कि भरतमुनि ने कहा भी है—'काव्य के अर्थों को (जो) प्रकाशित करते हैं।' और ये काव्यार्थ ही रस हैं।

जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थों के 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'प्रजापतिः आत्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात (तै० ब्रा० ।') ['वनस्पतियाँ आदि यज्ञ में बैठी' तथा 'प्रजापति ने अपनी चर्बी निकाली और उसे अग्नि में हवन कर डाला'] इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में सामर्थ्यादि से लक्षित अधिकारी को मन्त्रों का आह्वान करते समय पहले तो अत्यन्त प्रशंसित सामान्य अर्थ की प्रतीति मात्र होती है पर उसके बाद वर्णित भूतकाल की उपेक्षा कर प्रत्यक्ष या वर्तमान अनुभव रूप में संक्रान्त होने वाली विधि नियोग आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत होने वाली भावना ही अधिक प्रतीत होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक काव्य से भी अधिकारी सहृदय सामाजिक को प्रत्यक्ष सामान्य वाक्यार्थज्ञान मात्र से रसात्मक व्यङ्ग्यार्थ का अधिक या अतिरिक्त बोध हो जाता है।

(काव्यादि के प्रदेश में) निर्मल प्रतिभाशील हृदय वाला सामाजिक व्यक्ति अधिकारी माना जाता है। और उसे (शाकुन्तल के) 'ग्रीवा-भङ्गाभिरामम्' और (कुमारसंभव के) 'उमापि नीलालक' तथा 'हरस्तु किञ्चित्' इत्यादि काव्यवाक्यों द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उक्त प्रकार

के वाक्यों में गृहीत कालादि (देश-कालादि) के विभाग की उपेक्षा करने वाली मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। और उस प्रतीति में मृगशावक आदि का जो विषयरूप में भान होता है उसके साधारणीकरण हो जाने के कारण विशेषरूप के अभाव हो जाने से 'यह भीत है' ऐसी प्रतीति होती है और भय के उत्पादक (दुष्यन्तादि) के अवास्तविक होने से भय की देश-काल से असम्बद्ध प्रतीति होती है। और इसीलिये 'मैं भीत हूँ, यह भीत है अथवा यह शत्रु, मित्र या मध्यस्थ भीत है।' इत्यादि सुख-दुःख आदि की प्रतीति से नियमतः अन्य प्रतीति को उत्पन्न करने वाले विघ्नबहुल (लौकिक) ज्ञानों से भिन्न, निर्विघ्न बोध के द्वारा हृदय में साक्षात् प्रविष्ट होता हुआ सा और नेत्रों के सामने घूमता हुआ सा 'भयानकरस' आ जाता है। इस प्रकार के भय में सामाजिक की आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित ही होती है और न विशेष रूप से उल्लिखित [अर्थात् संसक्त] ही रहती है [कि उनके भावावेश में चलने लगे] इसी प्रकार शृङ्गार के अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततं, व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्, चमत्कारस्तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः। यथः—

अज्जवि हरिणो चमक्कइकहाइं ण मंदरेण कलिआइं।
चंदकलाकंदलसच्छहाइं लच्छिए अंगाइं॥
[अद्यापि हरेः चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि।
चन्द्रकला-कन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अङ्गानि॥]

और फिर (विभावादि का उसी देश-काल में) साधारणीकरण परिमित नहीं होता अपि तु विस्तृत होता है। धूम और अग्नि के व्याप्तिग्रह (साहचर्य नियम) के समान भय और कम्प आदि के व्याप्तिग्रह समान विस्तार लिये होते हैं। जौर यहाँ साक्षात्कारात्मक रूप से नटादि सामग्री पोषण करने वाली होती है। जिसमें काव्यवस्तु में निबद्ध देश, काल तथा प्रमाता आदि को वास्तविक देश, काल आदि के नियामक कारणों के पारस्परिक बन्धन से अत्यन्त अलग कर देने पर साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। और इसीलिये अनादि वासना से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिक सहृदयों की समान वासना हो जाने के कारण सभी को समान रस-प्रतीति होती है। यह विघ्नों से सर्वथा रहित आनन्दपरक चमत्कारात्मक प्रतीति होती है और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प, रोमाञ्च तथा शरीर को उछाल कर कम्पित करना (उल्लुकसनम्) आदि अनुभावात्मक विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। जैसे :—

आज भी मन्दराचल ने अपने स्पर्श से श्रीविष्णु के शरीर में चमत्कार उत्पन्न करने वाले चन्द्र की कला के समान लक्ष्मी के सुन्दर अंगों को नहीं पहचाना जान पड़ता है।

तथा हि स-चातृप्तिव्यतिरेकेणाच्छिन्नो भा (भो?) गावेश इत्युच्यते। भुञ्जानस्याद्भुतभोगात्मस्पन्दाविष्टस्य च मनः करणं चमत्कार इति। स च साक्षात्कारभावो मनसाध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरत्य (न्न?) स्ति (स्तु?)। यदाह—

यहाँ चमत्कार शब्द पुलकादि के लिये प्रयुक्त किया गया है और इससे निर्विघ्न बोध रूप अतृप्ति से भिन्न (अर्थात् पूर्णतृप्ति रूप) भावावेश [भोगावेश ?] उत्पन्न होता है। इस प्रकार भोगात्मक व्यापार में संलग्न मन का भोग करने वाले के अद्भुत व्यापार से (आविष्ट मन का) चमत्कृत हो उठना ही 'चमत्कार' है [जो सामान्य से भिन्न असाधारणात्मा होता है।] और चमत्कृत मानस की यह साक्षात्कारात्मक (रस) अनुभूति अध्यवसाय, संकल्प या स्मृति के रूप में प्रतीत होती है। जैसा कि निम्न पद्य में (कालिदास ने) कहा भी है :—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" (शाकु० ५।२)

इत्यादि, अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा, यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा ।

तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽ[प्यस्तु भावा]नुगामितया कारणाद् विषयसामग्र्यापि वा भवतु विज्ञानवादावलम्बनात्, सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः ।

रमणीय पदार्थों को देख अथवा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी व्यक्ति भी उत्कण्ठित हो उठता है (जैसे किसी प्रिय जन से उसका विछोह हो गया हो) अतः यह निश्चय ही वासना रूप से अन्तःकरण में स्थित अज्ञातपूर्व पिछले जन्म के परिचय या मैत्री वाले अपने किसी सुहृद्जन का स्मरण करता है । (अभि० शा० अ० ५।२)

यहाँ कवि ने जिस स्मृति को 'स्मरति' पद से प्रदर्शित किया है वह नैयायिकों की 'ज्ञातविषय ज्ञानं स्मृतिः (अर्थात् पूर्वानुभवजन्य संस्कार से बोधित ज्ञान का स्मरण होना) नहीं है । क्योंकि पहले से इस अर्थ का अनुभव नहीं हुआ है [अतः मनोवैज्ञानिक स्मृति सम्भव नहीं ।] किन्तु यहाँ स्मरण शब्द प्रतिभान नामवाले प्रसिद्ध साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप अर्थ को ही प्रतीत करवाता है । और आस्वादन स्वरूपा यह ऐसी प्रतीति है जिसमें निर्विघ्न रूप से रति आदि भावों का ही भान होता है । अतएव अन्य

विशेष भेदक धर्मों से उपहित न होने के कारण आस्वादन के योग्य होकर भी वह न लौकिक, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय और न लौकिक सदृश या उसके आरोपादि के रूप में यह काव्यात्मक अनुभव नहीं समझा जा सकता है।

इस प्रकार [विभावादि से उपचित स्थायीभाव को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मतानुसार] रत्यादि की उपचयावस्था में देशादि के अनियन्त्रित होने से अनुकरण भी भावानुगामी रूप में वैसा ही देशकाल से अनालिङ्गित होता है। तथा विज्ञानवाद का अवलम्बन करने से बाह्य विषय सामग्री [विभावानुभावादि] भी वैसी ही [देश काल से अस्पष्ट] हो जाती है। प्रत्येक अवस्था में आस्वादनात्मा एवं निर्बाध प्रतीति से ग्रहण किया हुआ भाव ही रस है।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि–लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिः। एवं चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते। विघ्नाश्चास्यां (सप्त)। (१) प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम, (२) स्वगतपरगतत्व नियमेन देशकालविशेषावेशः, (३) निजसुखादिवशीभावः, (४) प्रतीत्युपायवैकल्यम्, (५) स्फुटत्वाभावः, (६) अप्रधानता (७) संशययोगश्च।

इस प्रसङ्ग में विघ्नों को दूर करने वाले विभाव आदि होते हैं। जैसे लोक में विघ्नों से रहित जो प्रतीतियाँ हैं उन्हें चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय तथा विश्रान्ति शब्दों से जाना जाता [कहा जाता है] है। इन रस प्रतीति में (ये) सात विघ्न होते हैं :— (१) ज्ञान या प्रतिपत्ति के अयोग्य होना अर्थात् (रस की) सम्भावना का अभाव, (२) स्वगत या परंगत रूप से देशकाल विशेष का आवेश [सम्बन्ध], (३) अपने निजी सुख-दुःखादि का वशवर्ती हो जाना, (४) प्रतीति के उपायों का अभाव, (५) स्पष्ट (स्फुट) प्रतीति का न होना, (६) अप्रधानता तथा (७) संशय का योग।

तथाहि—(१) संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न (यो) शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोक सामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढ़ारूढ़प्रत्यय-प्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः [चोपायः]। अतएव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरुप्यते न तु प्रहसनादौ। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

(१) प्रतिपत्तावयोग्यता—

जैसे कि—ज्ञान के विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपनी प्रतीति को निश्चित नहीं कर पाता है और बिना इस निश्चय के विश्रान्ति (आनन्दानुभूति) की सम्भावना कहाँ हो सकती है। इसलिये रसास्वाद का यह प्रथम विघ्न है।

उसके निराकरण का उपाय अन्य सामाजिकों के साथ लौकिक सामान्य वस्तुओं के विषय में हृदय का तदात्म्य है। (समुद्रवंधनादि) लोकोत्तर व्यापारों में [असम्भावना के निराकरण हेतु] परम्परागत प्रसिद्धि से होने वाले (बद्धमूल) विश्वास को परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात आदि का अभिनेता में ग्रहण करना। इसीलिए लोकोत्तर उत्कर्ष के प्रदर्शन के द्वारा उपदेश तथा ज्ञान का प्रयोजन रखने वाले नाटकादि में नियमपूर्वक प्रख्यात विषय [नायक तथा वस्तु] आदि का निरूपण रखा जाता है [क्योंकि इन नाटकों में रसात्मक माध्यम से आदर्श की प्रतिष्ठा करना इष्ट होता है] इसके विपरीत प्रहसन आदि में प्रख्यात वस्तु या नायक ग्रहण न करके लोक सामान्य में प्रचलित कथानकों को प्रस्तुत किया जाता है। इनका निरूपण हम नाटक, प्रहसन आदि के लक्षणों के व्याख्यान स्थल (ना० शा० अ० २०) पर करेंगे अतएव यहाँ इसका विस्तार अपेक्षित है।

(२) स्वैकगतानाञ्च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीविषया

वा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

(२) स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः—

जब सामाजिक अपने निजी-दुःख का अनुभव (आस्वादन) करने लगता है तो कभी उसके नष्ट होने के भय से, और कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होने से उसी की स्थिति जैसी स्थिति (जीवनेच्छा) प्रकट करता है। अथवा उसके (दुःख के) परित्याग की इच्छा से, अथवा उसे प्रकट करने की या छिपाने की इच्छा से अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्य ज्ञानों (संवेदान्तर) के उत्पन्न होने से रसास्वाद में अतिशय विघ्न होता है। [अर्थात् ये विविध भावात्मक दशाएँ रसानुभूति में विघ्न उत्पन्न करती हैं]।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यम्भावी विघ्नः। तदपाकरणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५–१५८) इत्यादिना 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इति पूर्वरङ्गानिगूहनेन 'नटी विदूषको वापि' (ना० शा० २२।३०) इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादि-भेद-लास्याङ्ग-रङ्गपीठ–मण्डप–कक्ष्यादिपरिग्रह-नाट्यधर्मि-सहितः। तस्मिन् हि सति अस्यैव अत्रैव एतर्ह्येव च सुखं दुःखं चेति न भवति। प्रतीतिस्वरूपनिह्नवात्, रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्र एव पर्यवसानात्।

और यदि यह मान लिया जाए कि रस की स्थिति नटगत (अनुकार्यगत) है तो परगतत्व नियम से युक्त होने से उसके सुख दुःख आदि के संवेदन से सहृदय सामाजिक को भी अपने अन्दर निश्चय रूप से

सुख-दुःख मोह या मध्यस्थता का ज्ञान होगा; यह अन्यज्ञानात्मक स्वरूप रसानुभूति में विघ्न है।

इन विघ्नों के निराकरण के लिए नाट्यप्रयोग के विषय में 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र' (ना० शा० ५।१५८) 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इत्यादि से पूर्वरङ्ग के दर्शन एवं 'नटी विदूषको वापि' (ना० शा २२।३०) इत्यादि से लक्षित प्रस्तावना के अवलोकन से जो नटस्वरूप की प्रतीति होती है उसके साथ ही अभिनेता (अनुकार्य) की वेशभूषा के अनुरूप मुकुट आदि के द्वारा अलौकिक भाषादि के प्रकार, नृत्यादि (लास्य) के अंग, रङ्गपीठ तथा मण्डप के कक्षाविभागों आदि के परिग्रह रूप नाट्यधर्मी सहित नट के स्वरूप का आच्छादन करना भी एक उपाय है। और उसके होने पर इसी को यहाँ ही और इसी के द्वारा सुख या दुःख होता है यह नहीं कहा जा सकता है। (नट की) प्रतीति के स्वरूप का (मुकुट आदि से) आच्छादन होने से आरोपित रूपान्तर का प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान बना रहने से, अपने स्वरूप में विश्रान्ति का अभाव होने से और स्वरूप में विश्रान्ति होने पर नट के स्वरूपाच्छादन में ही समाप्त हो जाने से विघ्नों का निराकरण हो जाता है।

तथाहि—आसीनपाठ्यपुष्पगण्डिकादि लोके न दृष्टम्। न च तत्र किञ्चित् कथञ्चित् सम्भाव्यत्वादिति स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्। ततः स एष स्वपरनियतताविघ्नापसारणप्रकारो व्याख्यातः।

और आसीनपाठ्य तथा पुष्पगण्डिका आदि लोक में तो दिखाई नहीं देते। इससे वे नहीं होते यह बात नहीं है, क्योंकि उनकी नाट्य में किसी प्रकार सम्भावना तो हो ही सकती है। रसास्वादन के उपयोगी इन सभी कारणों को भरतमुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि के द्वारा संग्रहीत कर दिया है यह बात यथास्थान स्पष्ट करेंगे अतएव यहाँ उसके विचार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यह स्वगत परगतत्व नियम से विघ्नों के निराकरण का भेद बतलाया गया।

(३) निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः (यै ?) आतोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम् येनाहृदयोऽपिहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना० शा० १।२२)

(४) किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिभावः।

(५) अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्, यथाहुः— 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरेति' (न्या० सू० भा० १-३)। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तत्प्रमित्यवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते। अभिनयनं हि सशब्दलिङ्गव्यापार[वि]सदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः।

(३) निजसुखादिविवशीभावः—

जो पुरुष अपने निजी सुख दुःख से अक्रान्त हो जाता है वह अन्य वस्तु में अपना ध्यान कैसे लगा सकता है ? इसलिये रसानुभूति के इस विघ्न के निराकरण के लिये (नाटक आदि में) प्रत्येक पदार्थ में साधारणीकरण के प्रभाव की स्थिति रखी जाती है जिसके प्रभाव से सब भोग्य, शब्दादि विषयों से युक्त, विविध वाद्ययन्त्रों के प्रयोग, गायन एवं आश्चर्यकारी नृत्य आदि में निपुण नर्तकी आदि के द्वारा प्रस्तुत नृत्यादि प्रयोगों का आश्रय लेकर सामाजिक के मनोरंजन का आश्रय लिया जाता है। इससे शुष्क व्यक्ति भी हृदय की निर्मलता और सरसता प्राप्त कर सहृदय बन

जाता है। अतएव कहा है कि 'दृश्य और श्रव्य' दोनों काव्य के प्रकार रसास्वाद के उपाय हैं।

(४) प्रतीत्युपायवैकल्यम् तथा (५) स्फुटत्वाभावः—

(४) प्रतीति के उपायों के अभाव में प्रतीति कैसे हो सकेगी।

(५) और अस्पष्ट या परोक्ष प्रतीति के जनक शब्द और अनुमान के होने पर भी साक्षात्कारात्मक स्पष्ट (स्फुट) प्रतीति रूप प्रत्यक्ष की आकांक्षा होने के कारण उनसे उत्पन्न प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती। जैसा कि कहा भी हैं कि 'यह सारी प्रमिति (अनुभूति) प्रत्यक्ष परक है' (न्या० सू० १–३)। जिस वस्तु का स्वतः प्रत्यक्ष या साक्षात्कार होता है उसे सैकड़ों शब्द और अनुमान प्रमाण परिवर्तित नहीं कर सकते। और अलातचक्र आदि में प्रबल साक्षात्कारात्मक ज्ञान के कारण ही प्रतीति का लौकिक क्रम निश्चित होता है। अतएव दोनों से उत्पन्न विघ्नों के निराकरण के लिये लोकधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों से युक्त अभिनयों को रखा गया है। क्योंकि अभिनय शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष—(जैसा) व्यापार है यह आगे निश्चय करेंगे।

(६) अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति (एव) प्रधानम्। तद्यथा–रतिः कामतदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः, समस्तधर्मादिपर्यवसितस्तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्।

(६) अप्रधानता—

अप्रधान वस्तु में किसकी अनुभूति विश्रान्त हो सकती है? और अप्रधान (प्रतीत) प्रधान की ओर अग्रसर होकर भी अपने आप में विश्रान्त

नहीं हो सकता है। [इसलिये रस की अनुभूति में अप्रधानता विघ्न है]। यह अप्रधानत्व अचेतन विभाव, अनुभाव के समुदाय में और ज्ञान-रूप होने पर भी नियमतः स्थायीभाव का मुँह जोहने वाले व्यभिचारिभाव से भी हो सकता है; अतएव इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से अतिरिक्त स्थायीभाव ही चर्वणा के योग्य होता है।

उनमें पुरुषार्थ से सम्बद्ध होकर कुछेक ही रसानुभूति प्रधान हो जाती है। जैसे की रति स्थायीभाव काम-पुरुषार्थ से मुख्यरूप से तथा धर्म और अर्थ पुरुषार्थों से गौणरूप से सम्बद्ध होता हैं। क्रोध प्रधान रूप में अर्थ पुरुषार्थ से सम्बद्ध होता है और यद्यपि उत्साह स्थायी की परिसमाप्ति काम में होती है पर यह धर्म और अर्थ आदि सभी पुरुषार्थों से (भी) सम्बद्ध होता है। और तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायी और मुनि आदि विभावों वाले शान्त रस में मोक्ष पुरुषार्थ मुख्यरूप से सम्बद्ध होता है। इसलिये इन (रति, क्रोध, उत्साह और निर्वेद आदि) स्थायीभावों की प्रधानता होती है।

यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति, तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां लक्ष्यते। अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

और यद्यपि इन चारों स्थायीभावों का एक दूसरे के प्रति गौणभाव भी होता है पर [अर्थात् किसी एक नाटक में विभिन्न रसों की स्थिति में चारों स्थायीभावों की संयोजना की जा सकती है और ऐसी स्थिति में] प्राधान्य की दृष्टि से जो रस रूपकों में प्रधान होगा उसी रस को वहाँ प्रधानता रहेगी [क्योंकि समग्र नाटक में एक रस ही मुख्य होता है] इसलिए रूपकों के भेदों के अनुसार उनमें प्रधान रस की स्थिति कुछ आचार्य मानते हैं पर सूक्ष्मविवेचकों के लिए एक रूपक में भी इन स्थायीभावों की अलग-अलग प्रधानता भी हो सकती है।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात्,

अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम् । तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम् । किन्तू-परञ्जकविषयवशात्तेषामपि किं नास्ति कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव । एवं रत्यादीनां प्राधान्यम् ।

उनमें ये सभी रस सुखप्रधान होते हैं क्योंकि स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञान आनन्दमय होता है। और शोकानुभव भी निर्विघ्न विश्रान्ति रूप अनुभूति के कारण आनन्दपरक होता है, क्योंकि मन की अविश्रान्ति ही दुःख है। इसलिये सांख्यदर्शन के आचार्यों ने दुःख को रजोगुण की वृत्ति बतला कर चञ्चलता (अविश्रान्ति को) दुःख का मूलतत्त्व (प्राण) माना है। अतएव सभी रसों में (हृदय विश्रान्ति की स्थिति होने के कारण) आनन्दरूपता ही है। **प्रश्न**–*किन्तु कुछ रसों में वीर रस के समान उपरंजक (मिश्रित) स्थिति के कारण दुःख का स्पर्श क्या नहीं होता?* **उत्तर**—*पर वीर रस में क्लेशसहिष्णुतादि प्रधान होती है। इसी कारण रति आदि स्थायीभाव वाले चारों रसों (शृङ्गार, वीर, रौद्र तथा शान्त) की अन्य रसों की अपेक्षा प्रधानता (होती) है।*

हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जक-त्वमिति न प्राधान्यम् । अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन न हासा-दयो भवन्ति । पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दा-माद्रियते अल्पमुखभाषित्वेन च सर्वत्र विस्मयते । रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम् । एतद्गुणप्रधानभावाकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः ।

और हास आदि (हास्य, करुण बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत) रसों की सर्वसाधारण में पाये जाने वाले विभावों के अधिक उपरंजक होने के कारण अप्रधानता होती है; इसीलिए उत्तम प्रकृति के पात्रों में हास आदि अधिकता से नहीं रखे जाते। तथा निम्न प्रकृति के सभी पात्र

[विशेषरूप से] हंसते हैं, शोक करते हैं, भयभीत होते हैं, दूसरों की निन्दा (भी) करते हैं और थोड़ा सुख प्राप्त करने की प्रकृति होने से (दूसरे के अधिक वैभव या सुख को देख कर) विस्मित भी होते हैं। अतः रति आदि के अङ्ग-रूप में इनकी पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता हो सकती है। इन रसों के गौण मुख्य भाव से ही रूपकों के दस भेद होते हैं इसे हम आगे [अध्याय ५० में] बतलाएँगे।

स्थायित्वञ्चैतावतामेव। जात एव हि जन्तु—रियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथाहि—"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः" इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षाभिमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसन्तप्तस्तद्धेतुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरुः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तु-विषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वकर्तव्य-दर्शन-समुदित-विस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते।

स्थायीभाव—

स्थायीभाव इतने ही [अर्थात् नौ ही] होते हैं; क्योंकि प्राणी उत्पत्ति के साथ इतनी ही वासनाओं से युक्त होता है। जैसा कि कहा भी है कि—'दुःख की प्राप्ति से द्वेष करने वाला और सुख के आस्वादन में लीन' इस न्याय के अनुसार—(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने आन्तरिक उत्कर्ष से प्राप्त रमण की इच्छा रखता है (इससे रति का स्थायी भाव प्रकट होता है) (२) वह दूसरे का उपहास करता है, (इससे हास का), (३) प्रिय के वियोग से दुःखी होता है (इससे शोक का), (४) उस (वियोग) के कारणों के प्रति क्रोध करता है (इससे क्रोध का), (५) शक्ति के अभाव में उनसे डरता है, (इससे भय का) (६) किसी की प्राप्ति की इच्छा करता है (इससे उत्साह का), (७) अनुचित विषय के प्रति घृणा से भर जाता हैं और किसी को अनभीष्ट सा मानता है, (इससे जुगुप्सा का) (८) आश्चर्य जनक अपने तथा दूसरों के कार्य देखकर विस्मित होता है (इससे विस्मय का) तथा (९) किसी के त्याग

करने की इच्छा करता है (इससे निर्वेद का स्थायीभावत्व प्रकट होता है)।

न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवती। केवलं कस्यचित् काचिदधिकाचित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत् काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्याः तद्विभावकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

इन चित्त वृत्तियों के संस्कारों से शून्य कोई प्राणी नहीं होता, केवल इतना ही अन्तर होता है कि किसी प्राणी में कोई चित्तवृत्ति अधिक मात्रा में होती है और किसी में कम। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है और किसी की इसके विरुद्ध विषय में। इसलिये कोई एक चित्तवृत्ति ही पुरुषार्थों में उपयोगी (उपयुक्त) होने से उपदेश के योग्य होती है और इन उपयुक्त चित्तवृत्तियों के विभाव के अनुसार नायकों की उत्तमादि प्रकृति का (निश्चय करके) व्यवहार प्रवृत्त होता है।

ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथाहि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु सम्पादितस्वकर्त्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयोस्योत्साहादेरखण्डनात्।

यथाह पातञ्जलेः "न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः" (पात० सू० व्यास० भा० २।४) इत्यादि।

और ये जो ग्लानि, शंका आदि विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं वे अपने उपयुक्त विभावादि के अभाव के कारण जन्म लेने के अनन्तर शरीर में सदा विद्यमान नहीं रहतीं (किन्तु सदा उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं)।

जैसे कि रसायन का सेवन करने वाले मुनियों में आलस्य, श्रम तथा ग्लानि आदि उत्पन्न नहीं होती। और विभावों का आश्रय से कुछ समय के लिये जिसमें उत्पन्न होने भी हैं तो कारण के दूर होने पर पुनः नष्ट हो जाते हैं, ये संस्कार रूप में निश्चित ही विद्यमान नहीं रहते। [अतः ये व्यभिचारिभाव हैं] (परन्तु) उत्साह आदि अपने कर्तव्य को पूर्ण करने के बाद विलीनप्राय हो जाने पर भी संस्काररूप से विद्यमान रह जाते हैं [अर्थात् वे निश्शेष नहीं होते] और विभिन्न कार्यों का विषय होने से (तत्तत्संबधों में स्थित रहने से) उत्साह (स्थायी) भाव की अखण्डता बनी रहती है।

जैसा कि पतञ्जलि के योगसूत्र—भाष्य में कहा भी है कि—चैत्र किसी एक स्त्री में अनुरक्त है इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त है" [अर्थात् अव्यक्त रूप से उनमें भी उसका अनुराग हो सकता है] इत्यादि।

तस्मात् स्थायीरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्त-नीलादिसूत्रस्यूतविरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिक-काचाभ्रकपद्मरागमरकतमहानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं विभ्रतः स्वयञ्च विचित्रार्थस्थायिसूत्रञ्च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्न-च्छाया-शबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्ते इति व्यभिचारिण उच्यन्ते।

संचारीभाव—

अतएव स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति के सूत्र में ग्रथित ये (ग्लानि आदि) व्यभिचारिभाव उत्पत्ति और लय होने की अनेक विचित्रताओं [विशिष्ट-ताओं] से युक्त अपने स्वरूप को प्राप्त कर, लाल, नीले आदि वर्णों के सूत्रों में पिरोये हुए विरलभाव से प्राप्त होने के कारण सहस्रों विभेदों के सम्भव होने से स्फटिक, काच, अभ्रक, पद्मराग, मरकत तथा महानील

आदि मणियों के दोनों के समान उस (स्थायीभाव) सूत्र में अपने संस्कार गत वैचित्र्य का सन्निवेशन कराते हुए भी उस सूत्र के द्वारा किये जानेवाले अनेक उपकार के सन्दर्भ में स्वयं अपने को विचित्र अर्थों में व्यक्त कर उस स्थायीभावरूपी सूत्र को अनेक रूपों में प्रकट करते हुए और बीच-बीच में कहीं-कहीं उस शुद्ध स्थायीभावात्मक सूत्र को प्रकाशित होने का अवसर देते हुए भी पूर्वापर सम्बन्ध से व्यभिचारिभावरूपी रत्नों की प्रतिच्छवि से मिश्रित रूप दिखलाते हुए से प्रतीत (प्रतिभाषित) होते हैं तथा इसी कारण (वे) व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ।

तथा हि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते । न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः । अतएव—विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितत्वमात्रमावहन्ति । न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः, वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात् । व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति । वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे । एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम (ना० शा० अ० ६) इत्यनया सामान्य-लक्षण शेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च मुनिना कृतः ।

जैसे कि—'इसे ग्लानि हो रही है' ऐसा कहने पर भी प्रश्न उठता है कि उस की ग्लानि का विषय क्या है ? और हेतु विषयक ऐसे प्रश्न की उपस्थिति से ही ग्लानि की अस्थायिता सूचित होने से 'व्यभिचारिभावत्व' संकेतित हो जाता है । किन्तु राम उत्साह शक्ति से युक्त है' ऐसा कहने पर (पूर्ववत्) हेतु विषयक प्रश्न उपस्थित नहीं होता [अतः उत्साह की स्थिति स्थायी है, व्यभिचारी भावों की नहीं] और इसीलिए विभावादि उन उत्साहादि स्थायीभावों के उद्बोधक होकर उनके स्वरूप को उपरंजित करते हुए रति, उत्साह आदि के उचित अनुचित रूप को निर्धारित करने वाले कारण बनते हैं ।

किन्तु उनके [विभावादि के] अभाव में वे रत्यादि स्थायीभाव

सर्वथा असत् या लुप्त नहीं हो जाते। (क्योंकि विभावादि से) वासनारूप में रक्षित स्थायीभाव सभी प्राणियों में रहते (हुए जाग्रत हो जाते) हैं (यह कहा जा चुका है)। व्यभिचारि भावों का अपने विभावों की अनुपस्थिति में नाम भी नहीं रहता [वे तो स्थायीभाव की भूमिका पर ही अवतरित होते और अवस्थित रहते हैं] यह हम इनकी व्याख्या के अवसर पर प्रतिपादन करेगें। इस प्रकार स्थायी भावों के निरूपण के अवसर पर 'स्थायीभाव को रसरूपत्व प्राप्त करावेंगे' इस रस सामान्य के लक्षण के शेष भूत [अंगभूत] शृङ्गारादि रसों के विशेष लक्षणों के निरूपण द्वारा भरतमुनि ने 'अप्रधानत्व' रूप छठे विघ्न का निराकरण किया है।

(७) तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्, व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्, श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात् एवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः। सामग्री तु न व्यभिचारिणी। तथा हि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवेति।

(७) संशयोगः—

स्थायीभावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का अलग-अलग रहने या प्रयोग का कोई नियम नहीं है। क्योंकि करुण रस के अनुभाव आँसू निकलना आदि है पर आँसू आँख के रोग से भी उत्पन्न होते (देखे जाते) हैं। इसी प्रकार व्याघ्र आदि विभाव रौद्ररस के स्थायीभाव क्रोध तथा भयानक रस के स्थायीभाव भय के भी हेतु देखे जाते हैं [अतएव व्याघ्रादि को देखकर रौद्र या भयानक रस की उत्पत्ति में सन्देह हो जाता है।] [इसी प्रकार] श्रम, चिन्ता आदि संचारी भाव उत्साह तथा भय आदि स्थायी भावों के साथ देखे जाते हैं [अतएव श्रमादि को देखकर उत्साह या भय (स्थायी) की उत्पत्ति में सन्देह हो जाता है]। अतएव संशय के आधार पर संशययोग रूप इस सातवें विघ्न के निराकरण के लिये भरतमुनि ने रससूत्र में 'संयोग शब्द का प्रयोग (ग्रहण)

किया है। क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि पृथक्-पृथक् तो संशय जनक हो सकते हैं किन्तु उनकी समग्रता (सामग्री) अर्थात् संयोग संशयजनक नहीं होने से व्यभिचारी (दुष्ट) नहीं है [अर्थात् संयोगात्मक स्थिति संशयजनक नहीं होती]। उदाहरण के लिये यदि विभावरूप में बन्धु विनाश हो तो विलाप, रोदन आदि अनुभाव तथा चिन्ता, दैन्य आदि के व्यभिचारिभाव के रूप में रहने पर निश्चितरूप से इनके इस प्रकार के संयोग के द्वारा 'शोक' ही है यह माना जाएगा।

रस की विलक्षणता—

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यान-कटाक्षवृक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावना-समुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अतएवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनामधे-यव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौ-किकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलण एव रसः।

लोक व्यवहार के क्षेत्र में कार्य, कारण सहकारीरूप अनुमापक हेतुओं को देखकर रत्यादि रूप स्थायी भावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष विलोकन आदि अनुभावों के द्वारा जो कि नाटक के कारणत्व का परित्याग कर विभावन, अनुभावन एवं उपरंजकत्व के स्वरूप को प्राप्त कर अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले, कारणादि रूप पूर्व संस्कारों पर आधारित होने को व्यक्त करने के लिये विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वालें और भावों से सम्बन्ध अध्याय में भी जिनका विवेचन है ऐसे

प्रकारों वाले, सामाजिक सहृदय की बुद्धि या हृदय में उचित प्रकार से संयोग या सामंजस्य प्राप्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न, संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाये जानेवाले रत्यादि रूप अर्थ जिनका चर्वणा ही एक मात्र सार है न कि विद्यमान स्वरूपवाला अर्थात् चर्वण के काल में ही विद्यमान रहनेवाला और इसके अतिरिक्त समय में न रहनेवाला और स्थायीभाव से विलक्षण स्वरूप वाला ही 'रस होता है।

न तु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधोयत, "स्थाय्येव विभावादि-प्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यत" इति। एवं हि लौकिकेऽपि किं न रसः, असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतितीरनुमितिरूपा वाच्या, न रसः। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति।

औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्। तथा हि—लौकिक-चित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदन-विलक्षण एव।

और जैसा शङ्कुक ने बतलाया कि 'विभावादि के द्वारा प्रतीत कराया हुआ स्थायीभाव ही आस्वाद्यमानता को प्राप्त करने से 'रस' कहलाता है' संगत नहीं है। ऐसा मानने पर लौकिक जीवन (के अनुभवों) में भी रस व्यवहार या अनुभूति क्यों नहीं होगी? क्योंकि जब बिना उपस्थिति के रत्यादि की रसनीयता हो जाती है तो वास्तव में जहाँ रत्यादि स्थायी विद्यमान हों वहाँ (लौकिक पुरुष में) रस की स्थिति क्यों नहीं मानी जाएगी। इसलिये लोक में होने वाली स्थायीभाव की जो प्रतीति अनुमिति रूप में होती है यह रस नहीं कही जा सकती। (क्योंकि स्थायीभाव रस नहीं है) और इसी कारण रससूत्रकार भरतमुनि ने रस लक्षण में स्थायीभाव' का ग्रहण नहीं किया। यदि स्थायी पद का

सूत्र में ग्रहण किया जाता तो वह उलटा कष्टदायक (असङ्गत) हो जाता। केवल औचित्य निर्वाह की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि 'स्थायिभाव रस हो गया है।'

उस स्थायीभाव के द्वारा कारण रूप से प्रसिद्ध और आस्वादन के समय उपयोगी होने के कारण इन विभावादि का स्थायी अवलम्बन करता है। इसी दृष्टि से स्थायीभाव के रस रूप में व्यक्त होने की स्वीकृति का औचित्य माना गया है। [अर्थात् रसास्वादन में स्थायीभाव के कारण रूप विभावादि उपकारक हैं अतः उनके संयोग से 'स्थायीभाव रस हो गया है' ऐसा औपचारिक प्रयोग किया जाता है] तब लौकिक जीवन की चित्तवृत्तियों के अनुमान द्वारा रसत्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? [या रसत्व कहाँ से आ सकता है ?]। इसलिये अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न (विलक्षण) ही है (यह सिद्ध होता है)।

तथा हि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना (दि न) ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमान—स्मृत्यादिसोपानमारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोग-बलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः, तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपराग-शून्य-शुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्या-स्फुटत्व-विषयावेशवै-वश्येन च सौन्दर्यविरहात्।

क्योंकि—लौकिक जगत् में अनुनान की प्रक्रिया से संस्कृत सामाजिक नाटक आदि में प्रमदादि (आलम्बन विभवादि) को [लौकिक परगत रत्यादि

के समान] तटस्थभाव से स्वीकार (ग्रहण) नहीं करता, किन्तु हृदय-संवादात्मक सहृदयता के आधार पर अखण्डरसास्वाद के अंकुर रूप से, अनुमान, स्मृति आदि सोपानों की प्रक्रिया के अधिरोहण के बिना ही भाव की तन्मयता से प्राप्त आस्वाद्य के प्राणभूत चर्वणा के उत्पादक रूप से प्रमदादि (आलम्बन) विभावों का अनुभव करता है। और यह चर्वणा रसानुभव के पूर्व किसी प्रमाण से स्थित नहीं होती, जिससे उसे स्मृति कहा जाय। (तथा) इसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार भी नहीं होता क्योंकि अलौकिक विभावादि के संयोग से यह आस्वाद्यता वह प्राप्त करता है। और यह (रसचर्वणा) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान (आदि) लौकिक प्रमाणों से उत्पन्न रत्यादि के बोध से, तथा योगि प्रत्यक्ष से होनेवाले परसंवेदनात्मक तटस्थ ज्ञान से, और समस्त विषयों के प्रति वैराग्यसम्पन्न (असम्प्रज्ञात समाधि से स्थिति) परम-योगी में रहने वाले स्वसंवेद्य शुद्ध आत्मानन्द के अनुभव से विशिष्ट (विलक्षण) प्रकार वाला होता है। क्योंकि इनमें (प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा योगिप्रत्यक्षादि में) यथायोग्य अर्जनादि रूप विघ्नों के आ जाने से और ताटस्थ्य और अस्पष्टता की स्थिति में विषयावेश की विवशता के कारण आल्हादकत्व (सौन्दर्य) का अभाव हो जाता है। [और रसचर्वणा इन सभी से भिन्न (या विपरीत) प्रकार की होती है]।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेशावैवश्यम्। स्वात्मानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे। तद्विभावादिसाधारण्यवशसम्प्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः। अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्।

और यहाँ केवल अपने आप में रस के स्थित रहने के नियम के न होने से [परमयोगी के ज्ञान के समान] विषयावेष की विवशता नहीं रहती है, एवं अपनी आत्मा के सम्मिलित रहने से तथा परगतत्व का नियम न होने के कारण तटस्थता और अस्पष्ट प्रतीति भी नहीं होती, और उस रस के

विभावादि के साधारणीकरण की स्थिति में अपनी रत्यादि वासना के उचित रूप में उद्‌बुद्ध होने से अन्तर्वती अन्य (परोक्षत्वादि) विघ्नों की सम्भावना (भी) नहीं रहती है यह बात हम अनेक बार कह (ही) चुके हैं। अतएव विभावादि रसनिष्पत्ति के कारण (कारकहेतु) नहीं है; क्योंकि उनकी प्रतीति के बीत जाने पर भी रस की सम्भावना बनी रहती है।

नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्ह्येतद्धि विभावादयः इति? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्? भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं जिससे कि उन्हें प्रमाणों में गिना जाए, क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान रसादि की पूर्व विद्यमान सत्ता नहीं होती। (प्रश्न) तो फिर ये विभावादि क्या हैं? (उत्तर) चर्वणा में उपयोगी रहने वाला विभावादि व्यापार अलौकिक होता है (अतः उसका लोकवत् ठीक से स्थिति-निर्देश नहीं बतलाया जा सकता है)।

इस प्रकार का पदार्थ संसार में कहाँ देखा जाय जो कार्य और ज्ञाप्य न हो? यदि ऐसा प्रश्न करते हैं तो यह सांसारिक पदार्थों से भिन्नता का रहना रस की अलौकिकत्वसिद्धि के लिये भूषणभूत है। और ठण्डाई जैसे पानक-द्रव्य के स्वाद की विशिष्टता उसके अङ्गभूत गुड, कालीमिर्च अदि में कैसे देखी जा सकेगी? यही बात यहाँ (रस के विषय में) भी समानता रखती है। [अर्थात् रसानुभव की विशिष्टता विभावादि की लौकिक स्थिति में नहीं देखी जा सकती है]

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात्? एवं युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्? नेयं रसस्यापि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः

तब तो यह प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार रस प्रमेय नहीं रहता है ? (उत्तर) हाँ, यह कहना भी ठीक हो सकता है; क्योंकि इसका प्राणतत्व रसमयता है और इस रूप में यह प्रमेय स्वीकार नही किया जा सकता।

(प्रश्न) तो फिर रससूत्र में दिये गये 'निष्पत्ति' (पद) से क्या अभिप्राय होगा ? (उत्तर) भरतसूत्र में रस की निष्पत्ति नहीं कही गयी है, किन्तु उसके विषयभूत आस्वादन (रसना) की निष्पत्ति का उल्लेख किया गया है। और उस रसना विषयक निष्पत्ति से यदि केवल रसनाश्रित रस की निष्पत्ति का (उपचार द्वारा) अभिधान हो तो भी यह असंगत नहीं है।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकी स्वयं संवेदनसिद्धत्वात् । रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।

रस सम्बन्धी यह आस्वादन (रसना) न प्रमाणों का (अर्थात् ज्ञापक हेतु विषयक) व्यापार और न कारक हेतु विषयक व्यापार माना जा सकता है। और इसका साक्षात् अनुभव होने से स्वसंवेदनीयता हो जाने के कारण इसे असत्य या अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। आस्वादन (रसना) प्रतीति रूपा ही है किन्तु विभावादि लौकिक प्रमाणों [प्रत्यक्ष, अनुमान आदि] से विलक्षण होने से यह प्रतीति अन्य लौकिक ज्ञानों से भिन्न एवं विलक्षण है। यही आस्वादनस्वरूपरसना विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने के कारण उस प्रकार की प्रतीति का विषय होकर लोकोत्तर अर्थ में रस्यमान होने के कारण 'रस' कहलाती है। यही 'निष्पत्ति' का तात्पर्य यहाँ स्वीकार किया जाएगा।

अयमत्र सङ्क्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढ़प्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चा-

दयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेशकाला-नियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनु-प्रविष्टः अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया, येनार्जनाभिष्वङ्गादिसम्भावना, न च नियतपरात्मैकगततया येन दुखद्वेषाद्युदयस्तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।

साधारणीकरण—

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—मुकुट तथा चेहरे मुखौटे (प्रतिशीर्षक) आदि नेपथ्य विधान के कारण पहले नट विषयिणी बुद्धि आच्छादित की जाती है। और परम्परागत पूर्वकालिक ज्ञान, संस्कार तथा काव्य के द्वारा बलात् रामबुद्धि उसमें [नट में] स्थिर नहीं की जा सकती है। अतः नट और रामादि से सम्बद्ध देशकालादि का परित्याग हो जाता है। और यद्यपि व्यभिचारिभाव रत्यादि की प्रतीति करवाने वाले रूप में देखे जाते हैं किन्तु फिर भी वे (व्यभिचारी भाव तथा रोमाञ्चादि अनुभाव भी) देशकालादि के नियम के बिना रत्यादि की प्रतीति करवाते हैं; जिस प्रतीति में संस्कारयुक्त होने के कारण सहृदय की अपनी आत्मा भी आ जाती है। अतएव रत्यादि की तटस्थरूप से प्रतीति नहीं होती। और न निश्चित कारणों से होती है जिससे अर्जन विषयक आवेश आदि विघ्नों की सम्भावना हो। और न निश्चित रूप से उसकी परगत (नटगत) प्रतीति होती है जिससे दुःख, द्वेषादि की उत्पत्ति हो। इसलिये (क्षणिकतावादियों (बौद्धों) की तरह) साधारणीभूत चित्तवृत्तिप्रवाह की अथवा (स्थिरतावादियों या नैयायिकादि) की तरह) एक ही ज्ञान की विषयभूत प्रत्यक्षरूपा 'रति' ही शृङ्गाररस है। यह साधारणीकरण विभावादि के द्वारा सम्पन्न होता है।

तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो यथा—

"केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो धुर्यं वपुस्ते दृशो-
भंङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारं त्वमेकाकृतिः" ॥

उनमें विभाव की प्रधानता के कारण साधारणीकरण का उदाहरण :—

हे सुन्दरी, (रति क्रीड़ा रूप) केलि से उत्पन्न विभ्रमरूप मधु को धारण करने वाला तुम्हारा शरीर है, तुम्हारी भौंहों का परिहास विलास विशेष भंगी से टूटने वाला अनंग का धनुष है और तुम्हारे मुखकमल से उत्पन्न आसव केवल सूंघने के मात्र से (बिना पिये ही) विकार उत्पन्न करने वाला है। अतः तुम सचमुच तीनों लोकों में सारभूता ब्रह्मा की अप्रतिम रचना हो।

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्राधान्येन भाति। तदनुगतत्वेन केलीविभ्रमभङ्गुरनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो, भङ्गीक्रमविकारादि-शब्दबलाच्च विभाववर्गः प्रतिभातीति। अत एव नास्फुटत्वाशङ्कात्र रत्यास्वादमये शृङ्गारे विधेया।

इसमें विभाव (नायिकारूप आलम्बन) की प्रधानता के कारण (उसका) सौन्दर्य व्यक्त हो रहा है। केलि, विभ्रम, भंगुर, नर्म आदि शब्दों द्वारा अनुभाव-वर्ग का और भंगी, क्रम, विकार आदि शब्दों की सामर्थ्य से व्यभिचारिभाव उसी विभाव के अनुगामी रूप में प्रतीत होते हैं। [अतः विभावरूप नायिका के सन्दर्भ में स्थायीभाव (रति) का सहज साधारणीकरण हो जाने के कारण] यहाँ रति आदि के आस्वाद्य शृङ्गारादि में अस्पष्टता की आशंका नहीं करना चाहिए।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मय-महार्णवपूर्णभावसम्पादनाद् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

"यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥" इति।

अनुभाव की प्रधानता के कारण साधारणीभाव का उदाहरण शुद्ध सरस्वती के प्रवाह से पवित्र समस्त वाङ्मयरूपी महार्णवा को अपनी कृतियों से परिपूर्ण करने वाले द्विजश्रेष्ठ उपाध्याय भट्टेन्दुराज का यह पद्य है :—

जो गोपियों की आँखे कहीं रुक कर देखने में स्थिर नहीं हो पा रही हैं एवं उनके अंग कटी हुई कमलिनी के मृणालदण्ड के समान प्रतिदिन क्षीण (और म्लान) होते जा रहे हैं और उनके कपोलों पर दूर्वा के समान जो गहरा पीलापन दिखाई दे रहा है वह सब कृष्ण के युवक होने और गोपाङ्गनाओं के युवती होने के कारण है। ऐसे समय उनके वेष की यही दशा होती है।

अत्र विश्रम्येति, बहुशः इति, प्रतिदिनमिति च पदसमर्पिता व्यभिचारिगणः कृष्ण इत्यादिपदार्पितश्च विभावो गुणत्वेन प्रतिभासते। विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया।

यहाँ 'विश्रम्य' 'बहुशः' तथा 'प्रतिदिन' पदों से व्यभिचारिभाव की प्रतीति होती है तथा कृष्ण पद से प्रतीति होने वाला विभाव है जो यहाँ अप्रधान रूप से व्यक्त हो रहा है। तथा विश्रान्तिरूप स्तब्धता, देखने की विचित्रता, शरीरगत कृशता का तारतम्यभाव, रोमाञ्च तथा विवर्णता आदि अनुभाव वर्ग प्रधान रूप यहाँ से प्रतीत हो रहा है।

व्यभिचारिणां तु प्राधान्यम् तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम्। तत्राद्यं यथा महाकवेः (अभिनव) कालिदासस्य (कलशकस्य)—

"आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुं कातरा शफरशङ्किनी जहौ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम्"॥

विभावों और अनुभावों के प्राधान्य से व्यभिचारि भावों का प्राधान्य कैसे हो जाता है [अर्थात् विभाव के प्राधान्य से व्यभिचारिभाव का प्राधान्य व्यक्त होना] इसका उदाहरण है (अभिनव) कालिदास (कलशक) का निम्न पद्य :—

वह चञ्चलनयना नायिका अपने प्रियतम पर फेंकने के लिये बार-बार हाथ में लिये हुए जल को अपने नायकों की छाया पड़ने से मछली की आशंका करती हुई छोड़ देती है।

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं, तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम्। आत्तमात्तमित्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी। एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम्। किन्तु समप्राधान्ये एव रसास्वादयोत्कर्षः।

यहाँ नायिका का सौन्दर्यगत सौकुमार्य और भोलापन उनके आभूषणभूत वितर्क, त्रास तथा शंका आदि व्यभिचारिभावों की प्राधान्यता को व्यक्त करता है जो कि विभाव के प्राधान्य से उनके सौन्दर्यातिशय के कारण प्रतीत हो रहा है। यहाँ 'आत्तम् आत्तम्' इत्यादि पदों से सूचित अनुभाव व्यभिचारिभावों के अनुगामी प्रतीत होते हैं। [ये उदाहरण विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के पृथक् प्राधान्य के हैं] इसी प्रकार दो-दो की प्रधानता के उदाहरण भी समझना चाहिए। किन्तु दोनों की तुल्यप्रधानता में ही रसास्वाद का उत्कर्ष सम्पादित होता है

तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः–"सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः" (काव्यालं० सू० १–३–३०) "तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्" (काव्यालं० सू० १–३–३१) इति। तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषा-वेष-प्रवृत्त्यौचित्यादि-कल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते।

और वह समप्राधान्य जनित रसोत्कर्ष 'प्रबन्धकाव्य' में ही होता है और (केवल) काव्य में ही क्यों, वह इसकी अपेक्षा वास्तव में दशरूपकों [नाटकादि] में ही होता है। जैसा कि **वामन** *ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि–'प्रबन्धकाव्यों में दशरूपक ही श्रेष्ठ होते हैं' [का० सू० १–३–३०] 'क्योंकि वे चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त रहते हैं' [का० सू० १–३–३१]। प्रबन्धकाव्यों में (नाटकादि) रूपक के समान*

भाषा, वेष, प्रवृत्ति के औचित्य की कल्पना द्वारा (रसानुभूति होती है) और उस प्रबन्ध-काव्य के आश्रित होने से मुक्तक-काव्यों में रसानुभूति संभव हो जाती है। क्योंकि उसमें सामाजिक (सहृदय) पुरुष मुक्तक-काव्य के सम्बन्ध में 'यह इस प्रकार का वक्ता है' इत्यादि पूर्वापर कल्पनाएँ कर के प्रसंग के अनुकूल बहुत-सी भूमिकाएँ बना डालते हैं।

तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाट्यानामपि। तेषामपि तु नाट्ये 'निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानाञ्च तदेव नैर्मल्याधायि, यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्।

इसलिये जो सहृदय पुरुष काव्य के अभ्यास तथा पूर्वजन के संस्कार से परिमार्जित हैं उन्हें मुक्तक काव्य में सीमित (परिमित) रूप से व्यक्त विभावादि अधिक प्रत्यक्ष, स्पष्ट (व्यापक) तथा साक्षात्कारात्मक हो-जाते हैं, जिससे काव्यार्थ [रस] की प्रतीति निर्बाध होती है। इसलिये नाट्य की अपेक्षा न रखने वाले सहृदयों (सामाजिकों) के लिये काव्य ही रसप्रतीति और व्युत्पत्ति का कारण [या देने वाला] होता है। और ऐसे सहृदयों के द्वारा 'दर्पण पर गिरने वाली चन्द्र किरणों से जैसे उसका प्रकाश बढ़ जाता है' इसी तरह नाट्य का रसानुभव और भी अधिक निर्मलरूप में ग्रहण किया जाता है। और उन असहृदयों के लिये भी (वही) नाट्य नैर्मल्य का [अर्थात् सहृदयत्व का] आधान करने वाला होता है जिन्हें नित्य प्रयोग के कारण अभ्यास रखने पर गीत, वाद्य तथा गणिका के नृत्य आदि कलाएँ व्यसन रूप नहीं बन जाती हों।

तत्र च नटो ध्यायिनामिव ध्यानपदम्। नहि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः' इति स्मरणीयप्रतिपत्तिः, अपि तु

तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नाट्यप्रक्रियाद्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयितो नियतदेशकालाद्यस्पष्टविधिस्थानीयोऽर्थो 'अत इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति। यत्र दृश्येऽभिनयादौ चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः। सम्यग्ज्ञानभूतमेवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिः, न त्वयं न रामो, अन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

उस नाट्य में नट की स्थिति उसी प्रकार है जैसे ध्यान करने वालों के लिये ध्यान का स्थान (मूर्ति) होता है। यहाँ 'ये सिन्दूर आदि से युक्त वासुदेव हैं' इस रूप में स्मरणीय (इष्टदेव) की प्रतीति नहीं होती है किन्तु उस मूर्तिरूप उपाय के द्वारा देवताविषयक ध्यान स्पष्टतः संकल्प का विषय होकर फलसिद्धि का कारक होता है। इसी प्रकार नाट्य की कलात्मक प्रक्रिया के द्वारा जो ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट रूप से उदित होता है वह निश्चयात्मक होकर देशकाल की सीमा के स्पर्श से मुक्त होकर अर्थ की व्यञ्जना के द्वारा परिणाम या फल का विधि-स्थानीय अर्थ अर्थात् 'इस कर्म का यह फल होता है' ऐसा ज्ञान करवाता है। नाट्याभिनय के देखने से सामाजिक की चित्तवृत्ति में प्रत्यक्षादि से उत्पन्न बाधाएँ नहीं आतीं, अतः यह ज्ञान पूर्ण या सम्यक् ज्ञान ही कहलाता है। अतएव यहाँ 'अभिनेता राम है' केवल इस बात की ही प्रतीति होती है 'यह राम नहीं है' या 'यह राम से अन्य (अभिनेता) है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसे हम आगे चल कर और अधिक स्पष्ट करेंगे।

(नाट्यशास्त्र-गद्यांश) को[1] दृष्टान्तः। अत्राह—यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति[2]। यथा हि—गुडादि-

---

१. को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते—ग०।

२. तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति—ग० घ०।

भिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते तथा नानाभावोपगता[1] अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।

प्रश्न—क्या इस विषय में (कोई समानता निदर्शक) दृष्टान्त हो सकता है ? उत्तर—हाँ । जैसे गुड आदि पदार्थों, भाजियों तथा (अन्य) जीरक, हल्दी आदि औषधियों से युक्त व्यञ्जन द्वारा छः प्रकार के (लौकिक) रस निष्पन्न, (सम्पन्न आस्वादित) होते हैं । ठीक उसी तरह अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव 'रसत्व' की प्राप्ति कर लेते हैं ।

(अभिनवभारती–) तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—को दृष्टान्त इति । बहुनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क दृष्ट इत्यर्थः ।

रस के अलौकिकत्व को बिना दृष्टान्त के ठीक तरह से समझा नहीं जा सकता है इस आशय से भरतमुनि कहते हैं कि—इसमें क्या दृष्टान्त है इत्यादि । अभिप्राय है कि विविध पदार्थों के संयोग से रस की उत्पत्ति कहाँ देखी गयी ? [या उसकी उत्पत्ति का प्रमाण क्या है ?]

अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह यथेत्यादिनाप्नुवन्तीत्यन्तेन । व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम् । तच्च नानातिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादिओषधयश्चिञ्चागोधूमदलहरिद्रादयः । द्रव्यं गुडादि । एषां पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात्कुशलसम्पाद्यात्संयोगात् षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते । तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवनं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते ।

इस प्रश्न का भरतमुनि ने अपने भाष्य [मूल में प्रस्तुत वार्तिक भूत गद्यभाग] के द्वारा उत्तर दिया है—'यथा' से लेकर 'आप्नुवन्ति' तक के भाग से । व्यञ्जन का अर्थ है उपसेचन पदार्थ । और यह पदार्थ तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदों से तथा

१. भावोपहिता—घ० ।

दधि, काँजी आदि प्रकारों से अनेक प्रकार का होता है। औषधियों से तात्पर्य है इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदि पदार्थ। द्रव्य हैं गुड आदि। इन सबको कुशल पाचक भली प्रकार मिलाकर 'संयोग' की स्थिति निर्माण करता है। इस तैयार किये गये (षाडव) पेय में लोकप्रसिद्ध मधुर, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कडवा और कसेला आदि का अलग-अलग स्वाद नहीं होता उनके मिश्रण से एक मिश्रित या भिन्न स्वाद का ग्रहण होता है और षाडवप्रधान बहुत से आस्वाद्य पदार्थ बन जाते हैं। इसी प्रकार अनेक प्रकार के विभावादि के द्वारा 'उप' समीपता को प्राप्त अर्थात् उत्पन्न होकर प्रत्यक्षकल्पता को प्राप्त हुए रूप में, लौकिक सन्दर्भ में या लौकिक भावों की अपेक्षा से जो स्थायीभाव हैं वे अपने रसमयतारूप प्राणतत्त्व के साथ नाटकादि में रसत्व को प्राप्त करते हैं।

एतदुक्तं भवति। पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयं चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्पं स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्व-रस-सङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्।

इसका आशय यह है कि—पाचन रूप सम्यक् संयोग के द्वारा षाडवादि रूप लौकिक रस की उत्पत्ति होती है। और इस प्रकार के पदार्थों में प्रधानरूप में रस को अभिव्यञ्जक जल होता है इसलिये उपसेचन रूप व्यञ्जन के काव्य में विभाव स्थानीय मानना चाहिए। और इमली आदि औषधियों को काव्य में अनुभाव स्थानीय समझना चाहिए। गुड आदि जो द्रव्य हैं उनके साथ खट्टे आदि रस से विलक्षण (भिन्न) मधुरादि रस के योग होने से उन्हें व्यभिचारिभावों के स्थान पर समझना चाहिए। और वे (गुडादि द्रव्य) अपने आन्तरिक स्वाद के साथ अन्य द्रव्यों में अपने रस के संक्रमण द्वारा विचित्रता का आधान करने से व्यभिचारिभाव के समान माने जा सकते हैं।

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभाव-

कल्पव्यञ्जननितो मन्तव्यः। स हि लौकिकः। अयन्तु कुशलैक-निवर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति। तेनान्नस्येत्यध्याहारो न युक्तः। यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम्।

परन्तु यहाँ लौकिक रसों के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि मिश्रणकाल में अलग-अलग द्रव्यादि में न रहने वाला रसविशेष विभाव सदृश व्यञ्जन से उत्पन्न समझना चाहिए। यह लौकिक रस है। यह लौकिक रस कुशल पाचकों द्वारा उत्पन्न किया जाकर उसके विज्ञाता जन के द्वारा आस्वादनीय होता है। इसलिये यहाँ 'अन्न' पद का अध्याहार करना उचित नहीं है। इस लौकिक रस की प्रक्रिया को यहाँ दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है और दार्ष्टान्तिक काव्यरस की प्रक्रिया के द्वारा इसकी पुष्टि की गयी है अतएव जैसे दार्ष्टान्तिक में स्थायीभाव का ग्रहण बाधक होता है इसीलिये उसको छोड़ कर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव इन तीन को ही ग्रहण किया गया है इसी प्रकार दृष्टान्त में भी अन्य को छोड़ कर व्यञ्जन रूप जल आदि विभावस्थानीय, इमली आ अनुभवस्थानीय तथा गुड आदि को व्यभिचारिभाव के स्थानीय ग्रहण करते हुए तीनों को ही ग्रहण करना उचित है।

(नाट्यशास्त्र-गद्यांश) अत्राह—रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यमानत्वात्। कथमास्वाद्यते[1] रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जन-संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि-गच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायि-भावानास्वादयन्ति। सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति[2] तस्मान्नाट्यरसाः इति व्याख्याताः।

प्रश्न[1]—रस कौन पदार्थ है ? (अर्थात् रस को रस कहने में क्या

---

१. 'रस यह कौन पदार्थ है' इत्यादि के द्वारा यहाँ सूत्र के लक्षणपद की व्याख्या के लिये आक्षेप (प्रश्न) किया गया है। रस शब्द की प्रसिद्धि या शक्ति मधुरादि

---

१. कथमास्वाद्यो—ग०। २. अयं भागः ग—पुस्तके नास्ति।

कारण है)? उत्तर—यह आस्वाद्य (होने वाला)[1]—पदार्थ है। प्रश्न—रस का आस्वादन कैसे किया जाता है? उत्तर—जैसे पुरुष सुसंस्कृत (शुद्धता से निर्मित) अनेक व्यञ्जनों का भोजन करते हुए मधुर आदि

रस, पारद, विषय, सार, जलसंस्कार, अभिनिवेश (आग्रह) , काढ़ा, देह, धातु का सार आदि अर्थों में है। यह इसके अतिरिक्त अर्थों में प्रसिद्ध नहीं है पर प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रृंगारादि अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले रस शब्द का क्या अर्थ है और उसका क्या प्रवृत्तिनिमित्त है? यहाँ यह शब्द अपने विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे करता है और प्रयोक्ता की इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में या उस अर्थ का ज्ञान करने में कैसे प्रवृत्ति होती है? प्रस्तुत प्रश्न के ये सभी अभिप्राय हैं। यहाँ प्रश्नवाक्य में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द प्रवृत्तिनिमित्त का ग्राहक है। [अ० भा०]

१. रस शब्द की श्रृङ्गारादि के लिये प्रवृत्तिनिमित्तता को बतलाने के लिये भरतमुनि ने 'आस्वाद्यमानत्वात्' कहकर उत्तर दिया। इस प्रकार प्रवृत्ति के हेतु पर जो प्रश्न किया गया था उसका हेतुसूचक पञ्चमी विभक्ति के द्वारा उत्तर दिया गया है। अतएव रस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त आस्वादन किया है (यह तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है)।

आगे रस के प्रवृत्ति निमित्त पर आक्षेप करने के लिए पुनः कहा गया कि 'इसका आस्वादन कैसे किया जाता है'? क्योंकि लोक में रसनेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को 'आस्वादन' कहते हैं और श्रृङ्गार आदि का ज्ञान तो रसनेन्द्रिय से होता नहीं। तब उसे आस्वादन कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ प्रयुक्त 'यथा' शब्द इस बात का सूचक है कि यह औपचारिक क्रिया का आश्रय लेकर सादृश्य को व्यक्त करने के लिये कहा गया है।

भोग्य, भोक्ता तथा फल की स्थिति सादृश्य के अनुसार होती है। जैसे नाना व्यंजन-द्रव्यों से संस्कृत अन्न की आस्वाद्यता का अनुभव एकाग्रचित्त से आस्वादन करने वाले पुरुष को होता है और इस आस्वादन का फल प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्यादि प्राप्त होता है। इसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यक्त होने वाले रस के विषय में जान लेना चाहिए। स्थायी भाव की रस रूप में आस्वाद्यता, (भोग्य) एकाग्र चित्त और तन्मय हुए सामाजिक में आस्वादयितृत्व (भोक्ता) तथा आनन्दप्रधान धर्मादि के ज्ञान

(उसमें विद्यमान) रसों का आस्वादन कर प्रसन्न होते हैं; वैसे ही अनेक भावों (संचारियों) से अभिव्यक्त, वाणी (वाचिक) से, शरीरावयव से (आंगिक) तथा सत्व (सात्विक) से युक्त 'स्थायी' भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं, तथा उसे ग्रहण कर आमोदित होते हैं। इस प्रकार 'नाट्य' में विद्यमान तथा अनुभूत रसों की व्याख्या की गयी।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तिविदो[1] जनाः ॥ ३३ ॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा[2] बुधा ।
आस्वादयन्ति मनसा तन्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

इस विषय के निदर्शक (संग्रह-स्वरूप) परम्परा प्राप्त दो श्लोक

एवं नैपुण्य आदि की प्राप्ति को यहाँ फल कहा गया है। अतएव कर्त्ता, कर्म तथा फल के सादृश्य के कारण विभावादि से उत्पन्न प्रतीति-विशेष यहाँ आस्वादन क्रिया के रूप में वर्णित है।

यहाँ कुछ व्याख्याताओं ने व्यंजनादि के आस्वादन और रसप्रतीति के सादृश्य में दोष बतलाया है। उनके मत में अन्नादि के आस्वादन में तीन अवान्तर विभाग होते हैं—(१) आत्मा [आस्वादयिता]; (२) रसना [आस्वादक इन्द्रिय, आस्वादनक्रिया] तथा (३) मन। और यहाँ रस के विषय में केवल [एक] आस्वादन मात्र है। यही दोनों स्थलों में वैषम्य है। इन्हीं व्याख्याताओं ने इस विषमता के परिहारार्थ युक्ति दी है कि यहाँ आत्मा ही स्थानान्तरिक होकर मनःस्थानीय हो जाता है और मन रसस्थानीय होता है। आचार्य अभिनव का मत है कि यह तर्कना व्यर्थ है क्योंकि यहाँ भरतमुनि को रसोत्पत्ति में उपचार या सादृश्य का प्रधानरूप से प्रतिपादन मात्र अभीष्ट है।

---

१. भुक्तं भुक्तविदो—ग०।
२. भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो—ग०, घ०।

(आनुवंश्य श्लोक[1]) भी है—जैसे भोजन के रस-वेत्ता अनेक[2] पदार्थों से युक्त व्यजनों का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार अनेक भाव[3] तथा अभिनय से युक्त स्थायीभावों का सहृदय-जन मानस-आस्वादन करते हैं। इसीलिये ये स्थायीभाव नाट्य-रचनाओं में 'रस' कहलाते हैं ॥ ३३-३४ ॥

---

१. आनुवंश्य श्लोक—भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों के वचन हैं जो शिष्य तथा आचार्यों की परम्परा में चले आ रहे थे। भरत ने सूत्रार्थ—भूतं [संक्षेप में अर्थ के प्रतिपादक होने से] इन श्लोकों को भी 'कारिका' मान कर गृहीत किया है।

२. यहाँ 'बहुद्रव्ययुतैः' पद से द्रव्य के रूप में गुडादि भेदों का ग्रहण किया गया है। बहुत से व्यंजन कहने से उपसेचन द्रव्य दधि, काँजी आदि का ग्रहण इष्ट है। इस प्रकार यहाँ विभावों के भेद से रसभेद की बात सूचित की गई है। 'भुञ्जानाः आस्वादयन्ति' के द्वारा जिह्वा के भक्षणरूप व्यापार से अधिक मानसिक व्यापार दिखलाया गया है। यह आस्वादन रसना का व्यापार न होकर मानस व्यापार है और वह मानस व्यापार स्वरूप आस्वादन शृङ्गारादि रसों के अनुभव में पूर्णतः विद्यमान रहता है। अतएव शृङ्गारादि शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से भी किया जा सकता है किन्तु लौकिक व्यवहार में रसना व्यापार के बाद आस्वादन के अनुभव होने से यहाँ शृंगारादि के विषय में आस्वादन का प्रयोग औपचारिक है।

३. प्रस्तुत कारिका में 'भाव' शब्द का प्रयोग विभाव तथा व्यभिचारिभाव के शुद्ध स्वरूप के प्रकट या ज्ञापित करवाने के लिये किया गया है। यहाँ 'अभिनय' शब्द से अनुभावों का ग्रहण है और भावों से अनुभावों को अभिनय रूप होने से प्राधान्य प्राप्त करने के कारण अलग बतलाया गया है। उनसे अच्छी तरह 'संबद्ध' अर्थात् हृदय की एकरूपता और तन्मयता प्राप्त करने वाला जो 'बुध' या प्रमाता वह अपने हृदय में स्थायीभाव को सभी ओर से साधारणीभाव के द्वारा अभिन्न अनुभव करता है। इस कारण उसे साधारणीकरण के द्वारा अनिर्वचनीय रूप में स्थायीभावों की निर्बाध प्रतीति होती है क्योंकि इन्द्रियों से बोध होने पर विघ्नों की संभावना हो सकती है किन्तु मानस आस्वादन के कारण बाधा की संभावना नहीं रहती। इस समय स्वगत या परगत भेद से शून्य प्रमाता होता है अत, स्वगतादि भेद के द्वारा होने

रस तथा भावों का सम्बन्ध

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। [1]उच्यते—केषांचिन्मतं परस्परसंबन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति[2]। तन्न। कस्मात्? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।

भवन्ति [3]चात्र श्लोकाः—

(वृत्ति) प्रश्न[1]—क्या रस से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की? उत्तर—बतलाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि ये

वाले विघ्न भी नहीं होते जिससे रसप्रतीति में विघ्न आवें। यह आस्वादन लौकिक विषय के आस्वादन और अनुभव से रहित होता है और योगिप्रत्यक्ष से भिन्न एक विलक्षण प्रकार की सुख-दुखात्मक स्थिति वाला होता है। यह आस्वादन (चर्वण) अनुभूत्यात्मक विलक्षणता में आह्लादात्मक होता है तथा यह विभावादि से उद्बुद्ध स्थायीभाव से प्राप्त होता है। इसका वे ही सहृदय ('बुध') आस्वादन करते हैं–जो लौकिक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में चेष्टा तथा चित्तवृत्तियों के सामञ्जस्य का ज्ञान रखते हों। ये ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के द्वारा रस प्रतीति को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। अतएव 'नाट्य' अर्थात् विभावादि के समुदाय रूप से व्यक्त होने वाले 'रस' अथवा नाट्यरूप रस ही 'नाट्यरस' कहलाते हैं। इसका भाव यह भी हो सकता है कि रससमुदाय रूप ही 'नाट्य' है। [अ० भा०]

१. अभिनेता में स्थित रसों से सामाजिक में भावों की उत्पत्ति माने जाने पर नट के द्वारा करुणरस के अभिनय से सामाजिक में शोक स्थायीभाव के उद्बुद्ध होने पर करुणरस की पुष्टि या प्रतीति होती है। अतः अभिनेता द्वारा प्रथम रसाभिनय के द्वारा समाजिकगत शोकादि स्थायीभाव की और फिर सामाजिक भाव की पुष्टि से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है। इसलिये क्या रस से भाव उत्पन्न होता है अथवा भाव से रस, यह सन्देह होता है

---

१. मिति केषाञ्चिन्मतम्–क०; अत्रोयते–ग०। २. मभिनिर्वृतिरिति–ग०।
३. वंश्ये—क; तत्र—ग०।

पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होते हैं। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि भावों से रसों की उत्पत्ति देखी जाती है रसों से भावों की नहीं।

(और इस सन्देह के कारण ही प्रस्तुत प्रश्न की प्रवृत्ति हुई)। इसके अतिरिक्त तीसरा पक्ष यह भी है कि कालभेद से एक की दूसरे से उत्पत्ति होती है [आशय यह कि पहिले नटगत रस के अभिनय से भाव की उत्पत्ति होती है और बाद में सामाजिकगत भाव से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार कालभेद हो जाता है]। अथवा पहिले अनुकर्त्ता (नट) में अथवा अनुकार्य (रामादि) में भाव की उत्पत्ति होती है और फिर इस भाव के उपचित होने पर उससे (अनुकार्य या अनुकर्त्ता में) रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रस से भाव, भाव से रस तथा एक दूसरे से परस्पर दोनों की उत्पत्ति होने से तीन मत बन जाते हैं। (इनमें उपचितरत्यादि को रस मानने वाले भट्टलोल्लट के मत का पहिले खण्डन किया जा चुका है।) यहाँ (नाट्यशास्त्र के दूसरे व्याख्याकार) श्रीशङ्कुक का कथन है कि अनुकर्त्ता के अभिनय में सामाजिक को रसों के आस्वादन रूप में अनुकार्यगत रत्यादि भावों की जो प्रतीति होती है वही सामाजिक में प्रवृत्तरस को उत्पन्न करती है। अतः भरत के द्वारा मान्यसिद्धान्तों के अनुसार यह (भावों से रस की उत्पत्ति का) दूसरा पक्ष है। इन्हीं दोनों मतों से तीसरा मत भी बन जाता है।

पर (शङ्कुक का) यह कथन दोषपूर्ण है क्योंकि सामाजिक को अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता के विभेद का ज्ञान नहीं होता और शङ्कुक के अभिमत ('रत्यादि तथा अनुकरण रस है' इस) अनुकरणवाद का खण्डन किया जा चुका है।

अतएव इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार होती है : क्या रसों में भावों की उत्पत्ति होती है, अथवा उसका विपर्यय है; या दोनों एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं—ये तीन प्रश्न हैं। इन तीनों में विभावादिकों से रस की उत्पत्ति होती है यह कहा जा चुका है और यह दूसरा पक्ष पहिले ही स्वीकृत हो चुका है, [अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा (व्यभिचारि) भावों से रस की उत्पत्ति होती है] जो मुख्य पक्ष है।

इस पर श्री शंकुक की आपत्ति है कि—यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि लोक में विभाव, अनुभाव आदि नहीं होते, वहाँ (लोक में) तो उन्हें केवल कारण कार्य या अवस्था रूप ही माना जाताता है। यदि यह कहो कि वे ही

इस विषय में ये (परम्परा प्राप्त) श्लोक भी (कहे गए) हैं—

नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति[1] रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३५ ॥

नाट्यप्रयोक्ता[1] जन उन्हें 'भाव' जाने, क्योंकि ये अनेक अभिनयों से सम्बद्ध (अनेक रसों) को भावित (उनकी मूलस्थिति को धारण) करते हैं ॥

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ३६ ॥

जैसे[2] अनेक प्रकारों तथा प्रभूत सामग्री से व्यञ्जनों का भावन

नाटच आदि में प्रयुक्त होने पर आस्वादन में उपयोगी होने से विभावादि रूप को प्राप्त हो जाते हैं तो फिर यह मानना होगा कि रस की कृपा से ही विभावादि होते हैं । और यदि यह कहो कि उन विभावादि के प्रसाद से रस की निष्पत्ति होती है तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है, क्योंकि विभावादि व्यवहार रस के कारण होता है और विभावादि से रस की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार 'भावों से रस की उत्पत्ति होती है' इस स्वीकृत सिद्धान्त पर भी शंकुक के ये ही आक्षेप हैं कि एक दूसरे पर रहने वाले कार्य नहीं हो सकते । इसी के उत्तर में यहाँ भरतमुनि ने कहा है कि प्रमदादि विभावादि की प्रतीति ही रसास्वाद को उत्पन्न करती है अतएव रसों से भावों की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु भावों से रसोत्पत्ति होती है ।

१. नानाभिनय—भावशब्द (के अर्थ) का निर्वचन करने से यही बात युक्तिसंगत लगती है कि भावों से रस की उत्पत्ति होती है । यही 'नानाभिनय' आदि कारिका से यहाँ कहा गया हैं । इस प्रकार के रसों से सम्बद्ध अर्थात् हृदयंगम होने वाले रसों को जो 'भावयन्ति' अर्थात् उत्पन्न करते हैं, अतः ये भाव हैं ।

२. नानाद्रव्यै—अनेक द्रव्यों के योग से जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन कहलाता है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ अनुपान-(ठंडाई) रस का अभिप्राय व्यञ्जन शब्द से अभिप्रेत है । 'बहुविध' पद व्यञ्जन का उपलक्षण है । [अर्थात् जैसे अनेक द्रव्यों का अनुपात आस्वादन में व्यञ्जनरूप है, उसी प्रकार विविध भावों का संयोग प्रतीति रूप में रस है ।] द्रव्यों का यही बहुविधत्व

---

१. सम्बन्धान्—ग० ।

(निर्माण, आस्वादन) किया जाता है वैसे ही भाव विभिन्न अभिनयों के द्वारा रसों को भावित करते हैं ॥ ३६ ॥

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ३७ ॥

रस[1] भावहीन नहीं होता तथा रसहीन भाव नहीं होता, इनके पारस्परिक सम्बद्ध के सहारे से अभिनय में सिद्धि दिखाई देती है ॥ ३७ ॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगो[1] यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।

एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥३८ ॥

जैसे[2] बिना औषधि (हल्दी, मसाला आदि) के संमिश्रण के व्यञ्जन स्वादु नही बनता इसी प्रकार रस एवं भाव परस्पर सम्मिश्रित होकर

अथवा 'अभिनयैः' का 'बहुविधैः' विशेषण है, क्योंकि अभिनयों के अन्तर्गत भावों का बहुविधत्व परिलक्षित होता है, परन्तु ठंडाई आदि पेय द्रव्यों में अनेक द्रव्यों को मिलाकर एक रस बनाने के कारण 'बहुबिधत्व' नहीं है इसलिये उसे व्यञ्जन का उपलक्षण कहा गया ।

१. न भाव-हीनो—यह सिद्ध है कि "भाव के बिना रस नहीं होता है" क्योंकि इसीसे भरत का कथन 'भावो से रस उत्पन्न होते है' प्रतिपादित होता है; परन्तु यहाँ तो 'भावों रसवर्जितः' भी कहा गया है । तब इसका अभिप्राय यह है कि लोक में रस के बिना विभावादिका व्यवहार नहीं होता । और इस पर उत्तर दिया गया हैं कि उन दोनों के पारस्परिक योग से होनेवाली सिद्धि अभिनय में होती है। क्योंकि अभिनय में रस का अनुभव होने पर उसके सहायक होने से कारणादि विभाव कहलाते हैं; इसलिये इन दोनों के योग से अभिनय की सिद्धि होना उचित ही है और दोनों का संयोग प्रयोजनीय है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं रहेगा (जिसे अगले पद्य की व्याख्या में और स्पष्टतः बतला रहे हैं) ।

२. व्यञ्जनौषधि—प्रस्तुत प्रसंग को उदाहरण के द्वारा बतलाते हैं—जैसे व्यञ्जन (कांजी आदि द्रव्य) तथा औषधियों का संयोग तथा उसका व्यञ्जन रूप

---

१. संयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्—ग० ।

मनोरंजन या आह्लाद के साधन बनते हैं (या एक दूसरे को भावित करते हैं) ॥ ३८ ॥

यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥

जैसे[1] बीज से वृक्ष और फिर क्रमशः उससे पुष्प तथा फल उत्पन होते हैं; वैसे ही रस मूल है, उसी पर भावों की स्थिति अवस्थित है ॥ ३९ ॥

में आस्वादन, ये (दोनों) क्रमशः कर्त्ता और कर्म रूप में स्थित होकर जैसे कर्मभूत एक दूसरे को परस्पर सुस्वादु बनाते हैं, इसी प्रकार रस तथा भाव कर्त्तारूप में स्थित होकर कर्मभूत एक दूसरे को भावित कराते हैं। अर्थात् भाव रसों को निष्पन्न या भावित करते हैं और रस भावों को भावित करते हैं (भाव बनाते हैं अर्थात् भावपद से कथन करने योग्य बनाते हैं)।

यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि एक विषय में एक क्रिया होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है किन्तु क्रियाभेद होने पर नहीं, जैसे प्रस्तुत प्रसंग में दधि कांजी आदि उपसेचन द्रव्य के संयोग से अन्न में अम्लादि रस उत्पन्न होता है, पर ऐसा नहीं कि आधारभूत अन्न से व्यञ्जन को आस्वादन के योग्य बनाया जाता हो। इसी प्रकार भावों के द्वारा स्थायीभाव की रस्यमानता होती है और रसों के द्वारा कारणादि रूपों [सीता, रामादि] को विभाव पद से अभिहित किया जाता है (अतः यहाँ क्रियाभेद के कारण अन्योन्याश्रय नहीं)। जैसे पट की अपेक्षा से तन्तु 'कारण कहे जाते हैं और तन्तु की अपेक्षा से 'पट' कार्य कहलाता है तो अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता इसी प्रकार यहाँ भी क्रियाभेद के कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

१. यथा बीजाद्—यदि भावों से उत्पन्न रसों को स्वीकार किया जाए तो आपने यह कैसे कहा कि 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' अतएव पहिले उन्हीं का कथन करना उद्देश्य है, यह कथन कैसे सिद्ध होता है—इस आशंका के समाधानार्थ प्रस्तुतपद्य 'यथा बीजाद्' इत्यादि कहा गया है। जैसे बीज वृक्ष के मूल में कारणरूप होकर स्थित होता है इसी प्रकार रस काव्य के मूल में स्थित रहता है, अतएव उसी के द्वारा आनन्दास्वादपूर्वक प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान होता है। इसी कारण रस का व्याख्यान सर्वप्रथम करने

चार मूल रसों से आठ रसों का उद्गम—

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

योग्य है। कवि के मानस में साधारणीभूत रससंवितमूलक काव्य के द्वारा अभिनेता भी अभिनय प्रस्तुत करता है। यह कविगतसंवित् ही वास्तव में मूलभूत रस है। उसी के वशीभूत सामाजिक को अन्वयव्यतिरेक के द्वारा बाद में दिभावादि की प्रतीति होती है। अतएव मूल (बीज) स्थान पर कविगत रस भावादि का कारण है। काव्यगत उद्भावना में कवि सामाजिक के समान है जिसका समर्थन ध्वन्यालोककार के निम्न कथन से होता है। 'शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्' (ध्व० ३।४२) [यदि कवि 'शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय है] इत्यादि। बीजस्थानीय उसी रस से वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है; जिसमें पुष्प-स्थानीय अभिनयादिरूप (नट का) व्यापार है तथा फलस्थानीय (सामाजिक का) रसास्वाद है। इसीलिये सामाजिक के लिये काव्यजगत् रसमय होता है। प्रस्तुत रसप्रसंग में विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटवाद, सत्कार्यवाद तथा अद्वैतवाद के आधार पर रस की व्याख्या करने वाले आचार्यों के सिद्धान्तों का जो वर्णन हुआ है उसे विस्तार से जानने के लिए उन्हीं ग्रन्थों में देखना चाहिए, अनुपयोगी होने से उनके सिद्धान्तों की हम यहाँ चर्चा नहीं करना चाहते क्योंकि रस की व्याख्या में उनकी उपयोगिता नहीं है। [अर्थात् दार्शनिक मतों का प्रयोग रसनिष्पत्ति में अधिक सहायक नहीं है]।

दूसरे व्याख्याता इस श्लोक की अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं वे कहते हैं कि बीज स्थानीय भाव से रसरूप वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसमें अभिनय रूप पुष्प से सुन्दरता को प्राप्त रसरूप वृक्ष से प्रतीति रूप भाव ही फल स्थानीय भोग को प्राप्त करता है। यह व्याख्या प्रकरण के विरुद्ध है क्योंकि यहाँ इस प्रकार मानने पर आदि और अन्त में भाव आ जाता है जो सम्भव नहीं है।

इस प्रकार 'भाव से रस की उत्पत्ति ही सिद्धान्तपक्ष है परन्तु अभिप्राय वैचित्र्य की दृष्टि से किसी स्तर पर तीनों पक्ष कथञ्चित् संगत माने जा सकते हैं।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ४० ॥

(इसि) अतएव (अब) इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता (तथा इनके उदाहरणों) का वर्णन करते हैं। इन रसों की उत्पत्ति[1] के हेतु (स्रोतभूत) रस चार हैं। यथा—शृङ्गार, रौद्र वीर तथा बीभत्स।

इनमें शृङ्गार[2] से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ॥ ४० ॥

---

१. उद्दिष्टलक्षण और विभक्त (कर) व्याख्या किये गये रस की परीक्षा द्वारा परिष्कृत सामान्यलक्षण को बतला कर अब उत्पत्ति आदि के द्वारा विशेष लक्षण कथन करने के लिये 'तदेषाम्' इत्यादि से पुनः कहते हैं :—

उत्पादकों [अन्य रसों को उत्पन्न करने वाले] तथा उत्पाद्यों [शृंगारादि रस से उत्पन्न हास्यादि रस] का एक दूसरे से भेद होने से दोनों का विशेष-लक्षण होता है। उत्पादकों का उत्पादकत्व दूसरे उत्पादकों से विलक्षण होता है और वह उत्पाद्य के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्पाद्यरसों की विशिष्टता अपने उत्पादक रसों पर आधारित है और इसी कारण इनमें अन्तर रहता है।

यहाँ 'निदर्शन' पद से शृंगारादि नाम अभिप्रेत है। निश्चयेन दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निश्चय से दर्शन का उपायत्व उत्पत्ति आदि में संगत नहीं होता इसलिये उनसे भिन्न (विलक्षण) होने के कारण विभावादि का संयोग 'विशेष-निदर्शन' है। रसों के जितने भी ऊत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्धी भेद हो सकते हैं, वे सब इन्हीं चार प्रकारों से सूचित किये गये हैं।

२. चार मुख्य रसों से चार (गौण) रसों की उत्पत्ति का आशय है उनके विभावों द्वारा इन रसों की उत्पत्ति (या पुष्टि) होना। किन्तु यह निश्चय नहीं है कि इसके अतिरिक्त विभावों से (इन) रसों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वीर (तथा वात्सल्य) रस के विभाव से भी हास्यरस की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव उत्पत्ति का विशेष अर्थ लेकर उसमें तन्मूलक शब्द जोड़ना चाहिए। इससे यह अर्थ होगा कि हास्य शृङ्गार मूलक होता है इत्यादि।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु[1] प्रकीर्तितः ।
[2]रौद्रस्यैव च यत् कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥ ४१ ॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः ॥ ४२ ॥

शृङ्गार[1] का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति (अनुकृति) 'हास्य' कही जाती है, रौद्र का कर्म करुण, वीर का कार्य अद्भुत तथा बीभत्स वस्तु या उसे देखने का कार्य भयानक 'रस' समझना चाहिए ॥ ४१-४२ ॥

अथ वर्णाः

श्यामो भवति[3] शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥

---

१. शृङ्गार की जो अनुकृति है वह हास्य है ऐसा कहा जाता है अर्थात् शृङ्गारानुकृति रूप विभावों वाला हास्य-रस उत्पन्न होता है। जैसे शृंगार प्रथमरस है तो शृंगाररस से युक्त अनुकरणभूत 'हास्य' (द्वितीय रस) हुआ यहाँ यही अभिप्राय है। तथा रौद्ररस का जो कार्य अर्थात् वधादि रूप फल है वह करुण है। वीररस का सम्यक् अर्थात् अव्यवहित जो फल है वह 'अद्भुत' रस है। मूलस्थ 'परिकीर्तितः' का आशय है सब ओर से कीर्ति, यश, प्रताप आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला वीररस। अर्थात् वीररस से महापुरुषों की यश, प्रताप, कीर्ति चारों ओर फैलती है जो विस्मय का कारण होती है। और 'अपि' शब्द से शृंगार भी वीर का अव्यवहित फल होता है यह सूचित किया है। यहाँ जो 'बिभत्सदर्शन होता है वह भयानक होता है' कह कर बीभत्स तथा भयानक के अभेद का जो प्रयोग किया गया है वह औपचारिक है तथा इस उपचार का फल है दोनों के सहभाव का ज्ञान होना।

यहाँ शृङ्गारादि चार रस हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति के कारण कहे गये हैं वे यथायोग्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय से व्याप्त हैं और सौन्दर्यातिशय के (भी) जनक हैं।

---

१. स हास्य इति संज्ञितः—ग० ध०। २. रौद्रस्यापि—ग०।
३. भवेत्तु—ग०, भवेत् स तु—घ०।

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव[1] भयानकः।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥ ४४॥

रसों के वर्ण[1]

शृङ्गार रस का श्यामवर्ण (नीला), हास्य का सफेद, करुण का कपोत (घटेरिया) रौद्र का लाल, वीर का गौर (चमकीला सफेद), भयानक का काला, बीभत्स का नीला तथा अद्भुत का पीला वर्ण होता है॥

अथाधिदैवतानि[2]

शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रथमदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः॥ ४५॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्याद्द्भुतो ब्रह्मदैवतः॥ ४६॥

रसों[2] के अधिकारी देवता—

शृङ्गार रस के अधिकारी देवता विष्णु (कामदेव), हास्यरस के प्रमथ

१. रसों के वर्णों का कथन (उनकी) पूजा आदि के अवसर पर उसके ध्यान करने में उपयोगी है। अन्य व्याख्याकारों का मत है कि पात्रों के मुँह रंगने में इन निर्दिष्ट वर्णों की उपयोगिता है। शान्त रस का वर्णन मूल कारिका में नहीं बतलाया गया अतएव नवरसवादियों के मत में मूल के अन्तिम चरण का पाठ 'स्वच्छपीतौ शमाद्भुतौ' होगा। उनके अनुसार शान्तरस का पीतवर्ण माना गया है।

२. तत्तत् रस की सिद्धि के लिए उस उस देवता के पूजन को बतलाने के लिये रसों के अधिकारी देवताओं का निरूपण किया गया है। यहाँ विष्णु का अर्थ कामदेव है अर्थात् कामदेव रूपी विष्णु श्रृंगाररस का अधिदेवता है। प्रमथ शिव के क्रीडा करने वाले गणों को हास्यरस का देवता माना गया है। तीनों लोकों के संहार कर्त्ता रुद्र रौद्ररस के देवता हैं। रुद्र की प्रेरणा से प्रेरित यम प्राणियों का वध करता है जिसके सम्पादन होने पर करुणरस उत्पन्न होता है अतः करुण के यम देवता हैं। बीभत्सरस के महाकाल अधिष्ठातृ देव हैं जो बीभत्स के श्मशान, कंकाल आदि विभावों का सेवन करते हैं। वीररस का

१. कृष्णश्चापि—घ०। २. अथ दैवतानि—ग०।

गण, रौद्ररस के रुद्रदेव, करुण रस के यम, बीभत्स रस के महाकाल, भयानक रस के काल, वीर रस के महेन्द्र तथा अद्भुत रस के ब्रह्मा हैं ॥

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि । [एषां तु] इदानीं विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । स्थायिभावांश्च रसानामनुक्रमिष्याम[1] इति ।

(वृत्ति) इस प्रकार रसों की उत्पत्ति, वर्ण तथा अधिकारी देवताओं का वर्णन किया गया । अब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से युक्त होने पर इनके लक्षण तथा उदाहरण (सामान्य तथा विशेष) बतलाता हूँ[1] । तथा यहाँ रसों के स्थायि-भावों का भी (इस सन्दर्भ में) निदर्शन किया जायगा ।

देवता महेन्द्र है, महेन्द्र शब्द से त्रैलोक्य के स्वामी का ग्रहण होता है । अद्भुत-रस का देवता ब्रह्मा है क्योंकि ब्रह्मा अचिन्त्य प्रकारों के आश्चर्यजनक पदार्थों का रचयिता है । शान्तरस को मानने वाले आचार्यों के मत में 'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' पाठ रखा जाता है । उनके मत में बुद्धदेव जो परोपकार में रत तथा ज्ञानी है वे ही शान्तरस के अधिदेवता हैं ।

१. रसों के विशेष लक्षण कहने के लिये ग्रन्थकार 'इदानीम्' इत्यादि से प्रस्ताव बनाते हैं । विशेष लक्षण सजातीय से अन्तर बतलाने के लिये होता हैं क्योंकि विजातीय से भिन्न हुए बिना सजातीय का ज्ञान नहीं होता और 'विजातीय का स्पष्टीकरण सामान्यलक्षण के बिना सम्भव नहीं होता अतएव विभावानुभाव' इत्यादि के द्वारा संयोगरूप रस सामान्य-लक्षण दिया गया ।

लक्षणरूप जो निदर्शन अर्थात् विशेषलक्षण का यहाँ भरत ने जो प्रस्ताव किया है वह प्रत्येक रस के विशेषलक्षण कथनार्थ है । अथवा सामान्यलक्षण के उदाहरण विशेष लक्षण के कथनार्थ होते हैं क्योंकि प्रत्येक सामान्य का पर्यवसान किसी विशेषलक्षण में ही होता है और उसके विना सामान्यलक्षण स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

---

१. रसत्वमुपनेष्यामः क; ग० ।

(अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्)

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा—यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते[1]। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानाञ्च नाट्याश्रितानाञ्चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। एवमेष[2] आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रस इति।

जो स्थायीभाव (लोक में) सामान्यतः चित्तवृत्तिरूप होते हैं और अनेकविध काव्य नाट्य में प्रयोजकों के अनेकविध व्यापारों से बोधित होने वाले होते हैं उन्हें भी विश्रान्ति के एकान्तधाम रसत्व को प्राप्त करवाने की व्याख्या की जाएगी। क्योंकि कवियों और अभिनेताओं के द्वारा स्थायीभाव यथोचित विभावों के प्रस्तुतीकरण के द्वारा रसत्व को प्राप्त करवाए जाते हैं। जैसा ध्वन्यालोककार के निम्न पद्य में कहा गया है :—

'या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥"

अर्थ—हे समुद्रशायिम् विष्णो, रसों के आस्वादन के लिये प्रयत्नवान् कवियों कीं जो अपूर्व (नवीन) दृष्टि है और परिनिष्ठित अर्थ को प्रकाशित करने वाले विद्वानों की जो वैपश्चिती दृष्टि है उन दोनों के द्वारा इस विश्व को अहर्निश देखते-देखते हम श्रान्त हो चुके परन्तु आपकी भक्ति जैसा सुख अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं हो पाया। (ध्व० ३।४३)

इस पद्य में 'नवा' शब्द से कवियों की अपूर्व दृष्टि का अभिधान किया गया है। अभिनेताओं के रचनाकार कवियों के आश्रित होने से उनमें अपूर्व या नवीन दृष्टि नहीं होती जो अपूर्व अर्थ का अवलोकन या आस्वादन कर सके,

---

१. अनुमीयते—ग०। २. तदेवमेव गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकः—ग०।

शृंगार-रस-प्रकरण[1]

(गद्य भाग) इनमें शृङ्गार रस 'रति' नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है। प्रवृत्त होता है) तथा यह उज्ज्वल वेषात्मक (स्वरूप का

वह तो कवि को ही होती है। अतएव कवि तथा उन पर आश्रित अभिनेता के समान हम भी रसों के आस्वादनार्थ जिस प्रकार विभाव आदि की संयोजना कर रसत्व को प्राप्त कराते हैं वैसा ही वर्णन करेंगे। इस प्रकार लक्षणरूपग्रन्थ का फल [रसास्वाद] बतलाया गया।

१ शृंगाररस—प्रकरण

इन रसों में सर्व प्रथम काम के पुरुषार्थरूपी फल होने और समस्त प्राणि-जात के हृदयसंवादी होने के कारण कामप्रधान शृङ्गाररस का लक्षण 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मक' तक से बतलाते हैं। यहाँ तत्र पद क्रम के निश्च-यार्थ प्रयुक्त है अथवा 'ऐसा होने पर' इस अर्थ में रखा गया है। इस सूत्र के भाष्य से जिस लक्ष्यपद की प्रतीति होती है उसका नाम 'शृङ्गार' है। उसी की 'यत् किञ्चित्' से व्याख्या की गयी है। वस्तु के सौन्दर्य आदि से मण्डित 'शृङ्गार' होता है उसी के साथ मूलग्रन्थ में शुचि, मेध्य आदि की समानता दर्शायी गयी है। और इसीलिये उज्ज्वलवेषात्मा के लिये शृङ्गार शब्द प्रयुक्त किया गया है। यहाँ उपमान और उपमेय [अर्थात् उज्ज्वलवेष और शृङ्गार] में विषयगत विशेष विभेद की प्रतीति नहीं होने से अभेद मानकर इस प्रकार का व्यवहार होता है। अतएव आस्वादन की जाने वाली रति ही मुख्यरूप से 'शृङ्गार' शब्द का अर्थ होती है एवं रति के आस्वादक सामाजिक के द्वारा रति के उपभोग में विशेषरूप से आसक्त नायकादि को 'शृंगारी' कहा जाता है।

परन्तु उस रति के उत्पादक विभावादि में (आसक्त) सामाजिक पुरुष (में शृंगार) की जो व्यवसनिता (लगाव, आकर्षण) पायी जाती है वह रसा-स्वादन अवस्था लोक में विद्यमान होकर भी चिरकाल तक स्थिर नहीं रहती है। अतः आस्वाद्यमान रति शृंगार शब्द से गृहीत है और उस रति के आस्वादन में यथोचित विभावादि का उपयोग किया जाता है। शास्त्र में अनिषिद्ध, अनिन्दित, सुष्पष्ट एवं मनोहारी शब्द से शृङ्गार के अभिधान करने (का मुख्य रूप में) और शृङ्गार से उपमा देने का (गौणरूप से) यही कारण है।

होता) है। संसार में जो शुभ, पवित्र, उज्ज्वल (तेज सम्पन्न) तथा दर्शनीय हो वह 'शृंगार के द्वारा निर्दशित (उपमा दिया हुआ) होता है। उदाहरणार्थ—जो व्यक्ति उज्ज्वल (ललित) वेशधारी होता है उसे शृङ्गारी कहा जाता है। जैसे गोत्र[1], कुल तथा आचार के अनुसार तथा आप्त पुरुष

और यही बात मूलग्रन्थ में 'उपमीयते' पद से कही है। अर्थात् इन वस्तुओं की विभाव आदि रूप में रस प्रतीति के अन्तर्गत उपयोगिता बोधित या लक्षित होती है। यह लक्षित होना 'यस्तावत्' इत्यादि से दिखलाया गया हैं। अवधारणार्थक 'तावत्' शब्द के द्वारा शृङ्गार का मुख्य वाच्यार्थ उज्ज्वलवेष में गृहीत नहीं है अतएव उज्ज्वल वेषधारी शृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोगों में शृंगार शब्द का उज्ज्वलवेष में औपचारिक प्रयोग किया गया है। मुख्यरूप से शृंगार शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाने के लिए—'यथा च' इत्यादि (भरत ने) कहा है।

१. यहाँ 'गोत्र' शब्द का अर्थ पितृकुलपरम्परा तथा 'कुल' शब्द का अर्थ मातृकुलपरम्परा है। 'आचार' का अर्थ है व्यवहार। किसी पुरुष या स्त्री का जो नाम पितृ या मातृकुल परम्परा के आधार पर या व्यवहार को दृष्टिगत करते हुए रखा जाता है वही नाम लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो गुरुजन पुरुषादि के नाम रखते हैं वे भी प्रसिद्ध होकर प्रचलित हो जाते हैं।

इसी प्रकार रस आदि के नाम प्राचीन ब्रह्मा आदि आप्त पुरुषों के द्वारा रख रये हैं या शास्त्रवेत्ताओं के द्वारा व्यवहार में लाये गये हैं; शृङ्गार आदि नाम भी इसी व्यवहाराश्रित प्रकार पर समझना चाहिए। और वह आचार अर्थात् व्यवहार से इसी रूप में लोक में प्रसिद्ध है। यथा अपने उज्ज्वलवेषादि के कारण यह शब्द लौकिक प्रसंग में भी प्रयुक्त होने लगता है। शास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट शब्द भी वृद्धजनों के द्वारा व्यवहार किये जाने पर लोक में प्रसिद्ध होकर उपचार से भिन्न अर्थों में (भी) प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे—'यह सांख्य का पुरुष कुछ नहीं करता' 'उसने मेरे लिये इस पूर्वरंग की निर्मिति कर डाली' तथा 'इन दोनों में महत्ता इसकी अधिक है' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त 'पुरुष' 'पूर्वरंग' तथा 'महत्' शब्द क्रमशः सांख्य, नाटचशास्त्र तथा वैशेषिक दर्शनशास्त्र के विशेषशब्द हैं

के उपदेश द्वारा मनुष्यों का नामकरण किया जाता है; वैसे ही रस, भाव तथा अन्य नाट्याश्रित पदार्थों के व्यवहाराश्रित एवं परम्परा प्राप्त (आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट) नाम होते हैं। (अतएव) अनेक आचार व्यवहार से सम्पन्न यह रस मनोहारी तथा ललित-वेश वाला होने के कारण (आप्तोपदेश तथा व्यवहारसिद्ध दोनों रूप में) सुधार कहलाता है।

स च स्त्रीपुरुषहेतुक[1] उत्तमयुवप्रकृतिः[2]। तस्य द्वे अधिष्ठाने

परन्तु इनका लौकिक प्रयोग भी अन्यार्थ में होता है। इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्दों का विशिष्ट प्रयोग रस के विषय में मुख्य (रूप से होता) है और हृदयहारी उज्ज्वलवेषादि रूप लौकिक अर्थ में औपचारिक है।

'शृङ्गार' शब्द की व्युत्पत्ति में मत्वर्थीय 'आरकन्' का विधान नहीं है क्योंकि 'शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिक से आरकन् प्रत्यय करने पर शृङ्गार शब्द निष्पन्न होता है वृन्दारकशब्द के समान। अतएव 'शृङ्गार' शब्द उणादि से (निष्पन्न या) निपातित है।

अब 'रतिस्थायीप्रभवः' में आये हुए 'रतिस्थायी' आदि शब्द को 'स च' इत्यादि से स्पष्ट करते हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकार के वाक्य में अभिलाषा तथा सम्भोग विषयक लौकिकबुद्धि का ग्रहण होता है। यह स्थायीभावस्वरूपा रति अभिलाषा मात्र (कामावस्था में विद्यमान रहने वाली) व्यभिचारि भावस्वरूपा रति से भिन्न होती है और आरंभ से लेकर फलाप्राप्ति की अवस्था तक रहने वाली और परिपूर्ण सुखरूपी फलप्रदायिनी रति होकर (इस) शृंगार रस का कारण मानी जाती है। कवि लौकिक रति की वासना से युक्त होकर विभावादि को इस प्रकार प्रस्तुत करता है और अभिनेता उसको इस प्रकार नाट्य में (अभिनयादि के द्वारा) अनुभव करवाता है कि रति के आस्वादन होने पर शृंगार-रस का अनुभव होने लगता है। शृङ्गार की अनुभूति में (सामाजिक) का पूर्वकालीन संस्कार उपयोगी होता है यह कहा जा चुका है। इसी आधार पर इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि परमार्थतः रतिक्रीडा की स्थिति कामियों में ही होती है, क्योंकि उन्हीं में कामसुख की धारा विश्रान्ति लेती है। अन्य सामाजिक आदि को तो कवि के द्वारा वर्णित ऋतु, माल्य आदि (उद्दीपन

---

१ स्त्रीपुंस—ग०। २. उत्तमयुवति—ग०।

सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावदृतु-माल्यानुलेपनालङ्कारे-

---

विभावों के) विषय की मानसिक उद्भावना होती है और इसी उद्भावना के द्वारा वर्णित विभावों से तादात्म्य स्थापित करते हुए अभेद रूप में वे रसास्वाद करते हैं। अनुभुति के प्रधान होने से यह 'संवित्' (प्रतीति) ही प्रमुख है और अनुभूति के अतिरिक्त अन्य जडों के भोग्य होने से 'अनुभूति' ही रसस्वरूपा है। जैसा कि कहा भी है : 'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी' 'प्रश्वास व श्वास की आवागमन प्रक्रिया तो विडम्बना मात्र है (पर) वास्तविक प्राण तो जानकी [विषयक रति] ही है' (अर्थात् विभावादि श्वास-प्रश्वास की तरह शरीर धारण में सहायक है परन्तु रति ही प्राणस्वरूप होने से स्थायी है)।

कुछ व्याख्याकारों ने अनुकार्य तथा सामाजिक के भिन्न व्यक्ति होने से आधार भेद हो जाने के कारण अनुकार्य के अनुभवों की सामाजिक को प्रतीति कैसे होगी? ऐसी आशंका की है। यह अज्ञानमूलक है। क्योंकि दोनों में स्थित रति एक ही है और अन्योन्य अनुभव के आधार पर (अर्थात् परस्पर तादात्म्य या साधारणीकरण के द्वारा) परस्पर अभेद रहता है [अर्थात् अनुकार्य तथा सामाजिक-निष्ट रति अभिन्न या एक होती है]। इसी कारण भरत ने श्रृंगार रस को 'उत्तमयुवप्रकृतिः' कहा है। यहाँ उत्तम पुरुष और उत्तम स्त्री दोनों मिलकर दो उत्तम हुए। इसी प्रकार एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिलकर दो युवक [युवानौ] हुए। 'उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ तथा 'युवा च युवती च युवानौ' इन द्वन्द्व समासों में एकशेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ इति उत्तमयुवानौ, तौ प्रकृतिर्यस्य इति 'उत्तमयुवप्रकृतिः' ऐसी व्याख्या होती है। यहाँ उत्तम युव शब्द से उन दोनों स्त्री-पुरुषों की संवेदनशक्ति का संकेत दिया गया है शारीरिकसौष्ठव (उत्तमता) का नहीं, क्योंकि उत्तमत्वरूप विशेष धर्म चैतन्य का होता है (वही विशेष धर्म माना जाता है) और वह उसका यौवनावस्था सम्पन्न शरीर सर्वत्र युवक व्यवहार के अनुरूप होने से उस रति का कारण उत्तमयुवक होता है। और वही रति-संवित् आस्वादन योग्य होने से श्रृंगाररस हो जाती है। स्त्री-पुरुष के उत्तम न होने पर रति स्थिर नहीं होती तथा इसी प्रकार युवक न होने पर भी। अतएव ऐसी दशा में वह रति संवित्

ष्ठजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादि-भिर्विभावैरुत्पद्यते ।

नहीं कहला सकती क्योंकि उन दोनों में वियोग की सम्भावना हो सकती है। और श्रृंगाररस का प्राण ही संयोग (या वियोग का अभाव) युक्त रति संवित् होती है। (अर्थात् स्थायी भाव और रसप्रतीति परस्पर एक दूसरे को अनु-प्राणित करती है यही यहाँ व्याख्यान किया गया है) ।

'वेष' उसे कहते हैं जो चित्तवृत्ति को व्याप्त करता है और अपनी प्रतीति द्वारा रसरूप में संक्रान्त होता है वह विभाव तथा अनुभाव रूप 'वेष होता है और जो व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभाव में व्याप्त हो जाते हैं वे भी 'वेष' हैं। उन्हीं के उत्कृष्ट प्रकार के प्रयोग को यहाँ उज्ज्वल शब्द से संकेतित किया गया है।

रससूत्र में जिन विभावादि का संकेत से निरूपण किया था अब उनकी विभाग पूर्वक व्याख्या करने के अभिप्राय से 'श्रृंगाररस की दो अवस्थाओं का 'तस्य द्वे' इत्यादि से भेद बतलाते हैं।

'अधिष्ठाने' का अर्थ है अवस्थाएँ। अवस्था श्रृङ्गाररूप में अवस्थित रहती है इसलिए 'अवस्था' है। अतएव गो के शाबलेयत्व [दुरंगापन] और बाहुलेयत्व (बहुरंगापन) के समान ये दो अवस्थाएँ दो भेद नहीं हैं। प्रस्तुत दोनों दशाओं में रति का ही आस्वादन होता है और आस्वाद्यमान रूप श्रृङ्गारस होता है।

जैसा कि कालिदास के (मेघदूत के) निम्न पद्य में है :—

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥ [मेघ० २।३५]

[हे श्यामलनयने, मेघ से दिये गये समाचारों से मैं कुशल पूर्वक हूँ ऐसा समझकर लोकप्रवाद से मेरे (जीवन के) प्रति अविश्वासिनी मत बन जाना। विरह से प्रेम का ह्रास हो जाता है यह बात लोग यों ही कहते हैं परन्तु भोग अभाव में प्रियजन के प्रति तृष्णा बढ़ जाने से प्रणय और भी गहरा हो जाता है।]

तस्य नयनचातुरी¹भ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

यहाँ वियोगावस्था में प्रेम के विकास का कथन है ।

इसीलिये सम्भोगावस्था में विप्रलम्भ की सम्भावना से भय रहता है और विप्रलम्भ में सम्भोग की कामना बनी रहती है । इतना ही [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ ही] शृङ्गाररस का क्षेत्र या स्वरूप है । विप्रलम्भ शृंगार के जो अभिलाष, ईर्ष्या, प्रयास आदि पाँच प्रकार हैं उनका रति की स्थिरता के कारण (भोग के अभाव में भी) इन्हीं शृङ्गार के भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है । अतएव प्रेम होने पर तथा भोग के न होने पर भी सम्भोगशृङ्गार आदि का व्यवहार उपचार के द्वारा किया जाता है और दोनों दशाओं के मिश्रण से अतिशय चमत्कार उत्पन्न होता है । जैसा अमरुक के निम्न पद्य में :—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम् ॥ (अ० श० २३)

[पारस्परिक कलह के कारण एक ही शय्या पर मुँह फेर कर लेटे हुए, पारस्परिक उत्तर प्रत्युत्तर न देने से खिन्न दोनों के हृदयों में एक दूसरे को मना लेने की इच्छा रहने पर भी अपने गौरव की रक्षा करने वाले दम्पति के धीरे-धीरे कनखियों के चलाने से (दोनों की) आँखें मिल जाने पर हँसकर एक दूसरे के गले लग जाने से मान क्रीड़ा भंग हो गयी ।

प्रस्तुत उदाहरण में ईर्ष्या-विप्रलम्भ और सम्भोग के मिलन से दम्पति के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के द्वारा अतिशयता के साथ शृङ्गाररस की अनुभूति (होती) है ।

अतएव श्रीशंकुक आदि ने जो आशंका की है कि पुरूरवा को उन्मादावस्था के समय और वत्सराज उदयन की तपस्या के समय विप्रलम्भ शृङ्गार में भी अनुज्ज्वल वेष पाया जाता है । यह संगत होगा ? परन्तु इनकी यह शंका वस्त्रालंकारादि रूप भोग के रस होने ये अनुचित है और जैसे स्नानादि

१. चातुर्य—ग० ।

व्यभिचारिणश्चत्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जाः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य [मोह] मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः॥

अवस्था उज्ज्वल होने पर भी रस नहीं होती, इसी प्रकार अनुज्ज्वल वस्त्रालङ्कारादि न रस होते और न रस में बाधक ही होते हैं। और शंकुक ने ही इस आशंका का जो यह उत्तर दिया कि उज्ज्वलवेष के न रहने पर भी उदयन आदि उत्तम रति का परित्याग नहीं करते अतः वहाँ शृङ्गार रस रहता है यह भी असंगत है क्योंकि इससे शंका का परिहार नहीं होता यहाँ यह शंका तो नहीं है कि उज्ज्वल वेष न रहने पर शृंगार क्यों रहता है? और यदि यह शंका मान भी ली जाए तो क्या दोष है? और यह प्रश्न करें तो आप कुछ भी कह लें किन्तु भरत मुनि ने यह कहा है कि शृंगार उज्ज्वलवेष वाला होता है, पर इसके विपरीत होने पर शृंगार नहीं होता ऐसा तो नहीं कहा [अतएव 'वेष' का तात्पर्य वस्त्रादि नहीं है]।

सम्भोग तथा विप्रलम्भ अवस्थाओं में पहिले सम्भोग दशा को 'तत्र' इत्यादि से बतलाते हैं। इसमें परस्पर स्त्री-पुरुष विभाव (अर्थात् आलम्बन विभाव) होते हैं और ऋतु आदि उनके उत्कर्षाधान में उपयोगी होने से उद्दीपन विभाव होते हैं क्योंकि उत्तम प्रकृति में अवसर के अनुकूल न होने पर रति का उदय नहीं होता।

ऋतु से वसन्त आदि ऋतुएँ, माल्य से कुसुम की मालाएँ, अंगराग आदि अनुलेपन पदार्थ ये सभी काम के उद्दीपक हैं। अंगद आदि अलङ्कार और विदूषक आदि इष्टजन से नायक नायिका की उत्तम प्रकृति के परिचायक हैं। विषय का अर्थ है गीत आदि। उनके अन्तर्गत माल्यादि का निवेश हो सकता था किन्तु इनके प्राधान्य द्योतनार्थ अलग ग्रहण किया गया है। वरभवन अर्थात् महल आदि। यह प्रदेश विशेष का उपलक्षण है। इनका उपभोग शृंगार के अन्तर्गत मान्य है। उपवन में जाना, अनुभव या श्रवण करना अथवा महल आदि में बैठकर श्रवण आदि करना यह संकल्पादि का उपलक्षण है। क्रीडा का अर्थ जलावगाहन करना आदि है। लीला अर्थात् लोकवृत्ति या चेष्टाओं का अनुकरण करना। इसके अतिरिक्त आदि ग्रहण से हंसमिथुन, चित्र एवं

यह रस उत्तम प्रकृति (उदात्तप्रकृति या स्वरूप) के नायक तथा नायिका को लेकर (पारस्परिक अनुराग द्वारा) अपने स्वरूप को प्रकट

कलाकौशल के अवलोकन आदि को लिया जा सकता है। ये सभी शृङ्गार रस के विभाव समझना चाहिए। अभिनय के अन्तर्गत इन सभी के आयोजित होने पर पूर्ण रूप में उत्तम प्रकृति में रति का उदय होता है।

रसनीयता को प्रत्यक्षरूप में अभिव्यक्त करने के लिये नेत्रों के चातुर्य इत्यादि के द्वारा अभिनय करना चाहिए। क्योंकि उनके द्वारा रस को आस्वादन के योग्य बनाया जाता है। इसलिये उन नयन चातुर्य आदि को अभिनय और क्रियाओं को अनुभाव कहा जाता है। क्योंकि वे ही आभिमुख्य नयन और अनुभावन स्वरूप हैं। रस को आस्वादन में समर्थ बनाना उद्दीपन विभाव है। अतएव अनुभाव और उद्दीपन के अभाव में केवल विभावादि वर्णन के प्रमुख रूप से रहने पर (श्रव्य) काव्य में दृश्य के समान चमत्कार की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उनमें नाट्य के समान आस्वादन नहीं होता।

यह नयन चातुर्य आदि से कान्ता दृष्टि (ना० शा० ८।४१) का तात्पर्य लक्षणा से बोधित होता है। भ्रूक्षेप से 'चतुर' नामक भ्रू अभिनय (८।१२१) का तथा नेत्रों के घुमाने से कटाक्ष के द्वारा ताराकर्म (८।१००) का बोध होता है। आङ्गिक अभिनय में नयन चातुर्य, भौहों का कटाक्ष युक्त परिचालन और ललित अर्थात् मन्दगति से उचित अवसर पर अंगों की चेष्टाएँ आती हैं और ललित तथा सुकुमार अर्थ वाले श्रवणमधुर वाक्यों का उच्चारण वाचिक अभिनयान्तर्गत है। अतएव यहाँ इन आङ्गिक और वाचिक उपाङ्गों से होनेवाले अभिनयों को सूचित किया गया है। इसी से सामान्याभिनयाध्याय (अ० २४) में कहे गये चेष्टा तथा अलङ्कारों का भी ग्रहण हो जाता है। अतएव ललित तथा मधुर शब्दों की चेष्टा तथा अलङ्कार का वाचक मानना उचित नहीं है। आदि शब्द से मुखराग, रोमाञ्च आदि सात्विक भावों का समावेश होता है और मूल में नयनचेष्टा आदि को अनुभावात्मक कहकर उनको क्रियात्मक स्थिति में स्वीकार कर उनकी तटस्थता या उदासीनता का निषेध किया गया है और आभिमुख्यनयन (रूप अभिनय) के कथन से अनुकार्य या अनुकर्त्तागत रसप्रतीति की विश्रान्ति रूप आशंका का परिहार किया गया है।

करता है। इसके दो (मुख्य, मूल) विभेद हैं—(१) संयोग तथा (२) विप्रलम्भ। इनमें संयोग—(सम्भोग) शृंगार ऋतु, पुष्पमालाओं तथा अलंकारों के धारण, इष्टजन का साहचर्य, विषय या अर्थ, सुन्दर

आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष तीस व्यभिचारी भाव शृङ्गाररस में प्रयुक्त होते हैं। मूल में 'अस्य' से संभोग तथा विप्रलंभ नामक दशाओं वाले 'शृंगाररस' से अभिप्राय है। जुगुप्सा बीभत्सरस का स्थायीभाव है और उसके शृङ्गाररस में निषेध के द्वारा न्यायसिद्ध स्थायीभावों का भी अन्यरसों में व्यभिचारिभावत्व सिद्ध होता है। और यहाँ जो आलस्य का निषेध किया गया है वह प्रमदा आदि विभावों के विषय में रहने वाले आलस्य का निषेध है इसका आशय यह नहीं कि आलस्य मात्र का निषेध किया गया अतएव 'वपुरलसलसद्बाहुलक्ष्म्याः' (वे० सं० १।२) ['अलस बाहु से युक्त लक्ष्मी का शरीर'] और 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः' (विक्र० व० ५।६) ['उसका शरीर कुछ दिनों तक अलसाई आँखों से युक्त रहा'] इस प्रकार के वर्णनों में जो आलस्य को स्वीकार किया गया है वह निर्दोष है। काव्य नाट्यादि में विभावादि के पूर्वनिर्द्धारित क्रम का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि प्रथमोत्पन्न वस्तु स्थिर होती है और यह स्थिरवस्तु अपने अनुभाव आदि सहायक (परिवार) का संगठन करती है, और यही (रस) प्रतीति का क्रम है।

इन निर्दिष्ट तीस व्यभिचारिभावों में निर्वेद आदि सम्भोग शृंगार में व्यभिचारिभाव नहीं होने से उन्हें शृङ्गार में व्यभिचारिभाव कैसे निर्दिष्ट किया गया ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विप्रलम्भशृङ्गार में उनका प्रयोग किया जाता है। यही बात आगे 'विप्रलम्भकृत' इत्यादि से भरतमुनि ने कही हैं यहाँ 'तु' शब्द सम्भोग की अपेक्षा विप्रलम्भ के विशिष्ट प्रकार की सूचना दे रहा है। और वह भेद यह है कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों की विप्रलम्भ के प्रतिपादक वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से विप्रलम्भ से सम्बन्ध दुःखप्रधान निर्वेदादि को और शृंगार में वर्जित आलस्य की अवस्था को छोड़कर अन्य सभी सुख प्रधान धृति आदि व्यभिचारियों के द्वारा सम्भोग शृङ्गार का प्रदर्शन होता है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार में एक का दूसरे पर अंशतः आश्रित रहना अपरिहार्य है इसी बात को सूचित करने के मूल में 'अस्य' पद का अस्पष्ट प्रयोग किया गया है।

भवन का उपभोग, उद्यानगमन विहरण तथा अनुभव करने, (प्रिय जन के दर्शन, श्रवण तथा क्रीड़ा लीला आदि (विभावों के संयोग) से उद्भूत होता है। इसका अभिनय (रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण) नयन-चातुर्य, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष संचार, मधुर तथा ललित अंगों के परिचालन, मधुर शब्दों तथा ऐसी ही अन्य वस्तु के द्वारा किया जाता है। इसमें

शृङ्गार रस के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों का आस्वादन मिश्रित हो जाता है जिसे (मिश्रित रसास्वाद को) कालिदास ने रघुवंश में श्रीराम के अपने कर्म और पूर्वावस्था के वर्णन को करते हुए प्रस्तुत किया है। [आशय यह है कि रघुवंश के त्रयोदशसर्ग में विमान से लौटते हुए श्रीराम ने गत जीवन की विविध दशाओं और प्रदेशों को श्रीसीता को बतलाते हुए जो वर्णन किये हैं उनमें सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यामिश्र प्रतीति होती है]। और निद्रा के अन्तर्गत होने पर स्वप्न को मिश्रित प्रतीति करवाने के कारण प्रधान होने से व्यभिचारिभावों में पृथक् स्वरूप में स्वीकृत किया है। जैसे 'क्व नीलकण्ठ व्रजसी' (कु० सं० ५।५४) [हे नीलकण्ठ, तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?] इसमें तथा "सिवणवए" इत्यादि में और 'आहूतोऽपि सहायैः' इत्यादि उदाहरणों में सम्भोग तथा विप्रलम्भ की मिश्रित प्रतीति ही प्राणस्वरूप है।

सम्भोग दशा में विभावादि के समीप होने के कारण और के अभाव रूप होने से 'विबोध' भी व्यभिचारिभाव है। सम्भोग शृंगार में सुरतश्रम के कारण यद्यपि निद्रा आदि उत्पन्न होती है पर उससे रति में कोई वैचित्र्य की स्थिति निर्माण नहीं होती अतः सम्भोग में इसे अनुभाव नहीं माना जा सकता है परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में निद्रा के आधिक्य से रति भावना विशिष्ट होने से उसे अनुभाव माना गया है।

काव्य या नाटक में उन्माद, अपस्मार और व्याधि का अत्यन्त कुत्सित अवस्था में प्रयोग नहीं दिखलाना चाहिए। प्राचीन आचार्यों का मत है कि इनकी कुत्सित दशा (मृत्यु के) सम्भव होने पर भी प्रदर्शित न की जाए। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जीवन की इस कुत्सित अवस्था में जहाँ जीवन निन्दनीय हो जाता है—रति की अवस्था का ही विच्छेद हो जाता है क्योंकि इसका देह द्वारा उपभोग ही सार होता है और कुत्सित दशा के

त्रास, आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक संचारी भावों को छोड़कर शेष सभी प्रयुक्त किए जाते हैं। शृंगार के विप्रलम्भ (नामक भेद) का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, बिब्बोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य तथा मरण [मोह] आदि संचारी भावों द्वारा किया जाता है।

प्रदर्शन करने पर शृङ्गार का क्षेत्र ही समाप्त हो जाता है। अतः मरण संचारी का वर्णन इष्ट भी हो तो सम्भावना मात्र का या जिसमें शीघ्र पुनर्मिलन हो जाए ऐसे मरण का वर्णन करना चाहिए जिससे शोक की दशा को उत्पन्न होने का अवसर न मिले (अन्यथा करुणरस की अवतारणा हो जाएगी)।

अन्य व्याख्याकारों का इस विषय में यह मत है कि मरण (व्यभिचारिभाव) से जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है, किन्तु इससे प्राणत्याग कर्तृत्व रूप चैतन्यावस्था का ही ग्रहण इष्ट है। यह भावदशा सम्बन्ध तथा अवसर के अनुसार व्यभिचारिभाव के रूप में समझना चाहिए [अर्थात् विप्रलम्भदशा में प्राणत्याग के लिये उद्यत होने के वर्णन में 'मरण' संचारी का विनियोजन हो सकता है] जिसके उदाहरण काव्यादि में अनेक मिल सकते हैं।

आदि शब्द से भरतमुनि ने दैन्य, मोह आदि का समाहार किया है। ये व्यभिचारिभाव अपने अनुभावों के द्वारा अनुभूत होकर विप्रलम्भ की प्रतीति करवाते हैं। इसीलिये मुनि ने (यहाँ) 'अनुभावैः' पद का प्रयोग किया है।

अन्य आचार्य आदि शब्द को करुणावाचक मानकर विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अनुभावों को प्रधानरूप से प्रस्तुत करने का समर्थन करते हैं तो अन्य पक्ष के आचार्य आदि शब्द को 'एकशेष' मानकर दोनों पक्षों को मान्य करते हैं।

विप्रलम्भ में आशा के दूरगामी होने पर छलना स्वीकार्य रहती है पर सम्भोग शृङ्गार में उपचार से उसका विरहात्मक फल ग्रहण किया जाता है क्योंकि रतिदशा में प्रेमी-प्रेमिका परस्पर प्रवंचना नहीं करते, इसी कारण शृङ्गार में विरह के द्वारा सौन्दर्य को बतलाते हुए भरतमुनि ने यह सूचित किया है कि बिना विरह के शृंगाररस का प्रयोग न काव्य में और न नाटक में हृदयग्राही हो सकता है। इसीलिये सम्भोग शृङ्गार के अन्तर्गत मीठे स्वाद की निरन्तर एकरसता के परिहारार्थ गोत्रस्खलन आदि से उत्पन्न ईर्ष्या या अन्य कारणों से उत्पन्न (विप्रलम्भ के कारण भूत) कलह के द्वारा विषम दशा

अत्राह—यद्येवं रतिप्रभवः शृङ्गारः, कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति? अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च[1] दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च[2] सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

यहाँ[1] प्रश्न हो सकता है कि यदि शृङ्गार रति (भाव) से उद्भूत है

की कविगण सृष्टि करते हैं (जिससे एकरसता के कारण वैरस्य का परिहार होता है और चमत्कार बना रहता है) क्योंकि वात्स्यायन ने 'काम को विपरीतकारी' (का० सू० २।७।१) कहा है और भरतमुनि ने भी 'यद्वामाभिनवेशित्व' (ना० शा० २४।२०७) कहकर अपनी वात्स्यायन से सहमति दिखलायी है।

व्यभिचारिभाव अस्थिर होते हैं और बिजली के चमकने और विलुप्त होने के समान हैं और ये स्थायीभाव रूपी सूत्र की निरन्तरता में प्रकट और लुप्त होकर सौन्दर्याभिवृद्धि करते हैं। यद्यपि स्थायीभाव भी स्थिर नहीं होते फिर भी संस्काररूप से तथा धारावाही सजातीय प्रवाह रूप से स्थिर माने जाते हैं परन्तु व्यभिचारिभाव इस रूप में कुछ देर तक भी स्थिर नहीं रहते और वे अपने संस्कारों को स्थायीभाव के संस्कार में लीन कर उसी को पुष्ट करते हैं। यहाँ इसी रूप में इनका निरूपण किया है।

१. सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रतिपादक पूर्वोक्त वाक्यों की एकवाक्यता से दोनों दशाओं में वर्तमान शृङ्गार का जो स्वरूप बतलाया गया उसे और स्पष्ट करने के लिये भरतमुनि 'अत्राह' इत्यादि से पूर्वपक्ष उद्भावित करते हैं। (करुणरसे आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना इति) करुण रस में जिनका अधिकतर आश्रय रहता है ऐसा 'करुणाश्रयिण' पद का विग्रह करना चाहिए।

पूर्वपक्षी के द्वारा अप्रामाण्य की आशंका के परिहारार्थ मुनि 'वैशिक' इत्यादि से काम शास्त्रकारों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वैशिक शब्द का विग्रह है "वेशः वेश्यावर्गः करणं प्रयोजनं वास्य शास्त्रस्य तद् वैशिकं कामशास्त्रम्" (अर्थात् वेश शब्द का अर्थ है वेश्यावर्ग और कारण का अर्थ है

---

१. वैशिकशास्त्रैः—ग०। २. ताश्चावस्थाः—ग०।

तो फिर इसके करुण रसाश्रित (निर्वेद, ग्लानि आदि) सञ्चारी भाव क्यों माने गये ? (उत्तर) पहिले ही बतलाया जा चुका है कि शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ दो भेद होते है। वैशिक (वात्स्यायन आदि काम) शास्त्रकारों ने इन विप्रलम्भ की दस अवस्थाएँ बतलाई हैं जिन्हें हम सामान्याभिनय-निरूपण के अवसर पर (ना०, शा० अ० २४ में) बतलाएँगे।

सम्भोगात्मक प्रयोजन। यह जिस शास्त्र में हो उसे वैशिक या कामशास्त्र कहते हैं) इन कामशास्त्रकारों ने (भी शृङ्गाररस को अभिलाष से लेकर मरण पर्यन्त दस अवस्थाओं वाला बतलाया है। वैशिक का विस्तृत विवरण ना० शा० अध्याय २५ में स्वयं भरत ने किया है]।

अवस्थापद से विप्रलम्भ के अलग-अलग प्रकारों का निराकरण किया गया है। अतएव चिन्ता आदि को रतिस्थायी के व्यभिचारिभाव माना गया है और 'च' के प्रयोग से इस बात का संकेत दिया है कि नायक-नायिका मिलन की आस्था से युक्त होकर रतिस्थायी के अन्तर्गत विप्रलम्भशृंगार की अंगभूत दस अवस्थाओं का अनुभव करते हैं।

करुण और विप्रलम्भशृङ्गार (दोनों) में एक ही प्रकार के (समान) व्यभिचारिभावों का प्रयोग होने पर करुण का विप्रलम्भ से भेद कैसे स्पष्ट होगा इस आशंका के परिहारार्थ 'करुणस्तु' इत्यादि से भरतमुनि कहते हैं।

अधम प्रकृति के स्त्री-पुरुषों में स्थायीभाव की स्थिति नहीं होने से विप्रलम्भशृङ्गार नहीं होता और आलम्बन आदि विभावसामग्री के न होने पर भी रत्यादि स्थायीभाव की स्थिति नहीं होती (अत एव) अधम पुरुष का अपनी (प्रेयसी या) स्त्री के साथ स्थायी सम्बन्ध न रहने से वियोगावस्था में रतिस्थायी भी नहीं रहता अतः विप्रलम्भ शृंगार नहीं होता किन्तु उनमें शोक स्थायी भाव वाला करुणरस हो सकता है (अतः करुणरस विप्रलम्भ से भिन्न है)।

पर उत्तरप्रकृति के स्त्री-पुरुषों में रति के विपरीत शोक स्थायी भाव करुणरस में होता है अतः करुण का विप्रलम्भ से भेद करने के लिये मूल में 'निरपेक्षभावः' विशेषण दिया है। इसका आशय यह है कि बन्धुजन आदि के विषय में (विप्रलम्भ शृङ्गार में) रति (स्थायी) होने पर अपेक्षा (आशा) बनी रहती है अतः वह सापेक्ष है, परन्तु करुण में प्रिय की मृत्यु हो जाने से

करुण तथा शृंगार रस के पारस्परिक विभेद—

करुणस्तु [1]शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो[2] निरपेक्षभावः

औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेव सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति।

आशा के न रहने से उसे 'निरपेक्षभावः' कहा है। आशा का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में किया है। यथा–'आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यङ्गनानाम्' इत्यादि (मे० पू०। १०) (अर्थात् स्त्रियों का आशा बन्धन सूत्र प्रायः कुसुम के समान कोमल होता है।)

सापेक्षभाव से रहित अर्थात् निरपेक्षभाव रूप करुण-रस होता है। इस निरपेक्षभाव की उत्पत्ति शाप के कष्ट में पड़े हुए प्रियजन के विभवनाश, वध या बन्धन आदि से होती है। उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों के द्वारा शाप की अवस्था प्राप्त करने पर उसके प्रतीकार का कोई मार्ग नहीं रहता अतः उनके लिये वह केवल शोकोदय का ही कारण बनता है यह बात भी इसी से सूचित की गयी है; क्योंकि प्रतीकार की सम्भावना बनी रहने पर वह उत्साह या क्रोध का विभाव बन कर बीर या रौद्ररस की उत्पत्ति का कारण हो सकता था।

और विक्रमोर्वशीय में करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ की अवस्था को रखने के लिये उर्वशी में शापवश स्वर्ग चले जाने पर भी पुरूरवा के शोक को हटाने के लिये कालिदास ने उर्वशी को शाप प्राप्ति का पुरूरवा को पता न लगने (पाए इस प्रकार) का उल्लेख किया है। इस प्रकार करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के विभावों तथा स्थायीभावों में अन्तर स्पष्ट है और करुणरस में जो निर्वेदादि व्यभिचारिभाव होते हैं वे रतिभाव से असम्बद्ध निरपेक्ष शोकस्वरूप होने से भिन्न हैं। इसलिये भी यहाँ 'करुण' को 'निरपेक्षभावः' कहा गया है।

(इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में) करुण रस के स्वरूप को कहने के उपरान्त विप्रलम्भ में उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'औत्सुक्यचिन्ता' इत्यादि के

---

१. विनिपातनेष्टजनविप्रयोग—ग०। २. बन्धनसमुत्थो—ग०।

करुण रस में शाप तथा क्लेश में पड़ने से वियुक्त प्रिय या इष्ट व्यक्ति के रहने, विभव नाश, वध तथा बन्धन (के समान रूप में दोनों में) प्राप्त होने पर भी वह रति से निरपेक्ष रहता है और विप्रलम्भ शृंगार में (ये ही) औत्सुक्य तथा चिन्ता से उत्पन्न होकर, रति से सापेक्ष भाव रखते हुए स्थित रखते हैं। इसी कारण विप्रलम्भ रस और करुण रस एक दूसरे से पार्थक्य रहते हैं। यह शृङ्गार रस सभी (कथित) अनुभावों, भावों (आदि) से युक्त होता है।

अपि च—

सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः ।
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ॥ ४७ ॥

कहा भी है कि—शृङ्गार तभी कहलाता है जब वह सुख-बहुल प्रियजनों से युक्त हो, ऋतु तथा माल्यादि उद्दीपक पदार्थों के द्वारा मनो-

---

द्वारा उसकी योजना करते हैं। यहाँ 'चिन्ता' शब्द निर्वेदादि समस्त व्यभिचारिभावों का उपलक्षण है। औत्सुक्यप्रधान चिन्ता आदि व्यभिचारिभावों से विप्रलम्भ की उत्पत्ति होती है। अतः औत्सुक्य तथा चिन्ता के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार में रतिभाव सापेक्ष होता है और वह सापेक्षता रतिभाव से रहती है इसी कारण सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के विभाव तथा स्थायीभाव समान होते हैं। औत्सुक्य का अर्थ होता है विषय के प्रति उन्मुख होना और यह विषय (आलम्बन) के नष्ट हो जाने पर नहीं रह सकती है (क्योंकि आलम्बन के नाश के साथ विप्रलम्भ शृङ्गार की स्थिति कैसे रह सकेगी !) अतएव समस्त भावों से युक्त शृङ्गाररस एक ही होता है। इस प्रकार परीक्षा करके उसके फल का यहाँ उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार परीक्षा के पश्चात् सूत्रार्थ की स्थापना कर लेने पर विवरण रूप से तथा सूत्रार्थ के विस्तृत पाठ रूप होने से 'अपि च' इत्यादि से 'कारिका' को दिया जा रहा है। यह कारिका केवल सूत्रार्थ कथन रूप ही नहीं है अपि तु परीक्षा स्वरूपा भी है यही 'अपि च' के चकार का सांकेतित अर्थ है।

सुखप्रायेष्टेति :—यहाँ पुरुष शब्द से अनुभव करने वाले भोक्ता का ग्रहण

रंजन किया जाता हो तथा (जिसमें) नायिका और नायक का योग (मिलन) हो ॥ ४७ ॥

होता है और भोक्ता ही स्थायीभाव का संवित् स्वरूप है (अर्थात् यही स्थायीभाव का आस्वादनकर्त्ता या अनुभावक है) रतिरूप पुरुष के व्यभिचारिभाव योग्य होते हैं अतएव रतिरूप ही 'पुरुष' हैं। उपनिषद् पुरुष को 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इत्यादि से श्रद्धामय कहते (भी) हैं तो उसी प्रकार स्त्री भी यहां रति रूपिणी है।

भोक्तृत्व में पुरुष की प्रधानता होती है तथा स्त्री भोग्या होती है। प्रधान होने से पुरुष भोग्या (स्त्री) के अधीन नहीं होता। अतएव नायक के साथ अन्य नायिकाओं के सम्बन्ध होने पर भी शृङ्गाररस की हानि नहीं होती। इसके विपरीत भोग्य होने से नायिका परतन्त्र मानी जाती है और उसके पुरुषान्तर से सम्बन्ध होने पर शृङ्गाररस की हानि हो जाती है।

प्रस्तुत कारिका में 'सुखप्रायेष्ट' इत्यादि पुरुष के विशेषण रूप से इष्ट होने से सभी के मेल-जोल से शृंगार का विभावत्व दिखलाया गया है और रसोदय और उसके आस्वादन के द्वारा (विभावादि भोक्ता में अन्तर्भूत हो जाते है; इससे) भोक्ता की प्रधानता को भी सूचित किया गया है।

आवश्यक सामग्री की समग्रता या पूर्णता के निश्चय होने पर ही रतिभाव का उपचय (विस्तार) होता है। रत्नावली नाटिका में जब नायिका (सागरिका) को यह ज्ञात होता है कि—'उसके पिता ने उसे उदयन को समर्पित कर दिया था' तभी सामग्री की सर्वसम्पन्नता प्रतिपादित होती है तथा 'इस प्रकार कर्णपूर के दर्शन से' इत्यादि से उसकी कुलीनता भी प्रतिपादित होती है। इन सभी से वहाँ नायिका का सर्वसम्पन्नत्व दिखलाया गया अन्यथा उसकी रति उत्तम नहीं होती। क्योंकि जाति तथा सम्पत्ति की समानता के अभाव में असदृश रति का उचित विकास नहीं होता और सहृदयों के मन में (रस) प्रतीति के सम्बन्ध में विरसता उत्पन्न होने लगती है।

जो श्रीशंकुक आदि विषय सामग्री की ही पूर्णता को रस मानते हैं उनकी भ्रान्ति का आधार यही कारिका है परन्तु उपर्युक्त पद्धति से व्याख्या करने

अपि चात्र सूत्रानुविद्धे[1] आर्ये भवतः—

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ ४८ ॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४९ ॥

[इति शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥]

इसी विषय को बतलाने वाली सूत्र-भूता दो आर्याएँ भी हैं—

अनुकूल ऋतु, पुष्पमाला (आदि) के सेवन, अलंकारों के धारण, प्रियजन सहकार, गायन, काव्य श्रवण, सेवा तथा उद्यान में विनोद विहार आदि के द्वारा शृङ्गार रस उद्भूत होता है । इसका अभिनय आँखों

पर यह भ्रान्ति नहीं होगी । कारिका में 'संज्ञितः' शब्द से शृंगार शब्द की अन्वर्थता का निराकरण किया गया है, क्योंकि शृङ्गार शब्द केवल रूढ़ है (यह बतला चुके हैं) 'अपि च' इस भिन्न क्रमवाले पद का आशय यह है कि ऐसा यह केवल श्लोक का ही अर्थ नहीं किन्तु इस विषय में सूत्रार्थ का समर्थन करने वाली दो आर्याओं का भी है ।

ऋतुमाल्या—यहाँ मूलकारिका में 'प्रियजन' का अर्थ विदूषक आदि है; गान्धर्वशब्द का अर्थ है संगीत आदि मनोहर विषयों का प्रयोग तथा 'काव्य-सेवा' शब्द से विभाव के अर्थ में विषय के सङ्कल्प या स्वरूप को सूचित किया गया है । और जो यह कहते हैं कि 'काव्य के अन्तर्गत निहित रस काव्यार्थ को ग्रहण करने वाले सहृदय के चित्त में भिन्नभाव स्तर पर गृहीत होता है और इसीलिये सुखात्मक या सुखजनक होने से काव्यार्थ रसरूप है' इसका खण्डन (हमारे विवेचन) से हो गया है ।

दूसरी कारिका में 'धृति' तथा 'प्रमोद' शब्दों से व्यभिचारिभावों की सूचना दी गयी है । तथा इस प्रकार शृंगार की दो अवस्थाओं से एक ही शृङ्गाररस होता है इस तथ्य का उपसंहार (भी) किया गया है ।

॥ इति शृंगाररस प्रकरणम् ॥

---

१. सूत्रानुबन्धे—क; सूत्रार्थानुविद्धे—क (अ); चात्रानुविद्धे—ख

के विस्फारित करने, मुख की प्रसन्नता, मधुर एवं सस्मित वचनों, धैर्य, आमोद तथा ललित अङ्ग परिचालन (आदि) के द्वारा किया जाना चाहिये ॥ ४८–४९ ॥

हास्य (अथ हास्यरसप्रकरणम्)

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः। स च विकृतपरवेषालङ्कारधाष्टर्यलौल्यकुहका[1]सत्प्रलापव्यङ्गयदर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते[2]। तस्योष्ठ[3]नासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः। द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः। यदा[4] तु परं हासयति तदा परस्थः॥

(गद्य भाग) हास्य-रस[1] का स्वरूप 'हास' नाम स्थायी भाव वाला

---

१. हास्यरस का लक्षण करने के लिये 'अथ' इत्यादि से आरंभ करते हैं। मूललक्षण में दिये गये 'आत्म' शब्द से हास्यरस को 'तदात्मकः' माना गया है; इसका अभिप्राय यह है कि—श्रृंगाररस के निरूपण में आचार्य भरत ने (उसके) लक्षण में तो 'रति-प्रभवः' कहा और 'हास्य के लक्षण में 'हासस्थायिभावात्मकः' बतलाया। रसों के लक्षणों में ये अन्तर क्यों रखे गए ? इस आशंका के उत्तर में आचार्य-अभिनवगुप्त पाद ने बताया कि श्रृंगार तथा करुणरस के लक्षण में जो आचार्य में 'रतिप्रभवः' तथा 'शोकप्रभवः' कहा है इसका कारण है हास्यादि रसों के स्थायीभाव सजातीय हास्यात्मक प्रतीति को उत्पन्न करते हैं जब कि श्रृंगार तथा करुण के स्थायीभाव सजातीय प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते। श्रृंगार के रति स्थायीभाव से होने वाली प्रतीति रति रूप में न होकर सुखात्मक होती है तथा करुण रस के स्थायी

---

१. कलहासत्प्रलाप—ग०। २. समुत्पद्यते—ग०।
३. तस्यौष्टदंशननासा—ग०। ४. यदापरं ग०।

होता है। यह अन्य व्यक्ति के विकृत वेष अलंकार, ढिठाई, चंचलता, कुहक (कोख तथा गले को छूकर हंसाने), व्यर्थ बकवास, हीन अवयवों के दर्शन, दोषों के (हीनता या अन्य ऐसे ही दुर्गुणों के) देखने तथा इसी प्रकार की अन्य बातों वाले विभावों के द्वारा उत्पन्न (व्यंजित)

शोक से होने वाली प्रतीति शोकात्मक न होकर दुःखात्मक होती है। इस प्रकार रति तथा शोक स्थायी से विजातीय प्रतीति उत्पन्न होने से वे 'स्थायी-भाव -प्रभव' कहे गए। पर शेष हास आदि स्थायीभाव सजातीय प्रतीति के उत्पादक (मात्र) होने से 'स्थायीभावात्मक' बतलाए गए यही भेद का एक कारण है, और दूसरा कारण है विभावादिकों का साधारण और असाधारण होना। शृङ्गार तथा करुण के विभाव असाधारण होते हैं जबकि हास्यादि रसों के विभावादि लोकसाधारण होते हैं। यह भी स्थायीभाव-प्रभव तथा स्थायीभावात्मक के भेद का दूसरा कारण है।

इनमें वेष का अर्थ केशरचना आदि है। अलङ्कार से बाजूबन्द आदि का ग्रहण करना चाहिए। ये दोनों (वेष और अलङ्कार) विकृत अर्थात् देश काल, प्रकृति, आयु तथा अवस्था के विपरीत होने पर हास्यरस के विभाव हो जाते हैं। सभी रसों में प्रयुक्त विभाव हास्यरस के विभाव हो सकते हैं अतः समस्त रसों का हास्य में अन्तर्भाव हो सकता है [यह बात दिखलाई भी गयी है]। विदूषक हास्यजनक वेष के द्वारा हास्यात्मक (को) ही प्रदर्शित करता है। पर वेष शब्द में 'पर' शब्द 'दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले' अर्थ को बतलाता है। इस प्रकार देवदत्त आदि अन्य व्यक्तियों के वेष या अलङ्कार को धारण कर उद्घट्टक (अङ्गहार) आदि से भाण्डों के द्वारा जो उसका नृत्य प्रदर्शन होता है वह हास्य उत्पन्न करता है। वेष और अलङ्कार शब्द दूसरे की गति (चलने-फिरने) तथा बोल-चाल आदि के भी उपलक्षण है। धाष्टर्य का अर्थ है निर्लज्जता। विषयों में अनियमिता लौल्य (लोलुपता होती) है। बालकों के लिये उनकी आँख या गर्दन को गुदगुदाना 'कुहक' है। व्यंग का अर्थ अंगहीनता या नकटा-पन है। दोष का अर्थ है जो जैसी प्रकृति का नहीं है उसे वैसे प्रदर्शन में लेना जैसे कोई डरपोक प्रकृति का न हो तो उसे डरपोक दिखलाना या उसके अनुचित कार्यों को प्रदर्शित करना। ये सभी दोष हैं। अथवा जिन

होता है। इसका अभिनय ओठ,[1] नाक तथा गले के फड़काने, दृष्टि को सिकुड़ाने या फैलाने, स्वेद, मुंह के लाल होने तथा बगली झांकने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाय। इसमें रहने वाले संचारी भाव हैं—आलस्य, अवहित्था, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध तथा असूया (आदि)। यह (हास्य) दो प्रकार का होता है[2]—आत्मस्थ तथा परस्थ। जब मनुष्य स्वयं हंसने लगे तो आत्मस्थ तथा दूसरों को हंसावे तो परस्थ होता है।

अनुचित कार्यों का मुनि ने निषेध किया उनका उल्लेख या कथन करना दोष है। आदि शब्द से उन दोषों का सङ्कल्प या स्मृति करना लिया जाता है।

१. मूल के 'ओष्ठनासा' आदि शब्दों का 'स्पन्दन' शब्द से सम्बन्ध है। 'व्याकोशन' शब्द का अर्थ है आँखों का खोलना तथा बन्द करना तथा 'आकुञ्चन' का अर्थ आँखों को थोड़ा बन्द करना है। इनकी दृष्टि के साथ योजना होती है। 'आस्यराग' का अर्थ है मुख की लालिमा। पार्श्वों के पीड़न का अर्थ है उनको पकड़ना या दबाना। 'तन्द्रा' शब्द का अर्थ है मोह (मूर्च्छा)। ये विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव स्मित आदि आगे कहे जाने वाले प्रकारों के साथ उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति से यथायोग्य सम्बद्ध किये जाते हैं।

२. हास्यरस के दो प्रकार हैं। अपने में स्थित विकृत वेष आदि विभावों से जब विदूषक (आदि पात्र) स्वयं हँसता हो तो वह आत्मस्थ हास्य होता है और यदि वह महारानी आदि अन्य पात्र को हँसाता है तो वह परस्थ हास्य हो जाता है ऐसा श्रीशंकुक आदि प्राचीन आचार्यों ने माना है पर यह ग्राह्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर विभावों का आत्मस्थ तथा परस्थ विभाग होता है हास्यरस का नहीं। और स्वामी का शोक परिजनों में भी शोक उत्पन्न करता है तो इस प्रकार शोक के प्रसङ्ग में [करुणादिरस में] भी परस्थता मानी जानी चाहिए। और यदि महादेवी आदि अन्य व्यक्ति में व्यक्त होने वाला हास्य परस्थ माना जाए तो गम्भीर प्रकृति के स्वामी में सेवकों के अनुभावों से उत्पन्न होने वाला क्रोध [रौद्ररस] भी परस्थ होने लगेगा। अतः आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या दोषपूर्ण है। तथा स्वयं जिसमें विभाव हो वह हास्य आत्मस्थ तथा दूसरा जिसमें विभाव हो वह परस्थ होता है यह व्याख्या भी ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे का हास्य भी

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
[1]विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ ५० ॥
[2]विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ५१ ॥

इस विषय में दो आनुवंशी आर्यायें हैं :—

विपरीत स्थान पर अलंकारों के धारण करने; विकृत व्यवहार, वाक्य तथा वेष के प्रदर्शन करने और विकृत अङ्गों (विकारों तथा) चेष्टाओं आदि के द्वारा हंसाने पर 'हास्य' कहलाता है ॥ ५० ॥

क्योंकि यह अपने विकृत व्यवहार, वाक्य अंगों की क्रियाओं एवं विकृत वेष (आदि) के द्वारा मनुष्यों को हंसाता है अतएव इसे 'हास्य' कहते हैं ॥ ५१ ॥

स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ५२ ॥

यह रस (अधिकांश में) स्त्री तथा नीच प्रकृति के मनुष्यों में अधिक दिखाई देता है। इसके छः प्रकार होते हैं जिन्हें अब मैं बतलाता हूँ ॥ ५२ ॥

(उस) आत्मस्थ हास्य में विभाव होता है और [ऐसा यदि आत्मस्थ और परस्थ का विभाजन करें तो] रति आदि सभी स्थायी भावों में यह संभव हो सकता है।

अतएव यहाँ दो विभागों का आशय यह है कि स्वयं विभावों को न देखने पर भी दूसरे को हँसते देखकर लोग हँसने लगते हैं ऐसा लोक व्यवहार में दृष्टिगत होता है और गम्भीर प्रकृति होने के कारण विभावादि से भी जो नहीं हँसते वे भी दूसरों को हँसता देखकर थोड़ा मुसकुरा ही देते हैं, क्योंकि मनुष्यों का ऐसा स्वभाव दृष्टिगत होता है। जैसे खट्टे-अनार (नीबू या इमली)

---

१. विकृतैरर्थविशेषै—ग० । २. विकृताकारै—ग० ।

हास्य-भेद—

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ॥ ५३ ॥

हास्य के छः भेद हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित तथा (६) अतिहसित । ये प्रत्येक दो (दो) प्रकार के होकर उत्तम, मध्यम तथा अधमप्रकृति के व्यक्तियों में प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ५३ ॥

तत्र—

स्मितहसिते ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामहसितं ह्यतिहसितं[1] चापि विज्ञेयम् ॥ ५४ ॥

का स्वरूप ही ऐसा संक्रमणशील है कि उसके देखने मात्र से दर्शक के मुँह में पानी आ जाता है इसी प्रकार हास भी सङ्क्रमणशील है जो सूखी लकड़ी में अग्नि के समान शीघ्र अन्यों में फैल जाता है । अतएव स्वगतरूप हास्य आत्मस्थ और अन्यत्रसङ्क्रान्त रूप हास्य परस्थ होता है यही समझना चाहिए ।

स्मितमथ हसितम्—ये हास्य के छः भेद हैं जो उत्तम, मध्यम तथा अधम के दो-दो क्रम में रखे गये हैं । ये दो-दो के क्रम विभावादि के तारतम्य के कारण न्यूनाधिक होते रहते हैं ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं पर यह उचित नहीं क्योंकि इस प्रकार तो विभाव के तारतम्य के आधार पर अनेक भेद बनाए जा सकते हैं । अतएव ये भेद सङ्क्रमण के अभिप्राय से ही यहाँ मानना चाहिए । उत्तम प्रकृति के व्यक्ति में जो 'स्मित' है वही व्यापक होने पर 'हसित' हो जाएगा । इसी प्रकार शेष द्विकों को भी समझना चाहिए । और इसी कारण हास की तीन अवस्थाएँ कही जाएगी अन्यथा छः प्रकार का हास्य हो जाता है । हास की मन्दता होने पर 'स्मित', उसके बढ़ जाने पर 'हसित', इसके बाद आगे बढ़ा हुआ 'विहसित' और उसमें भी आगे बढ़कर दूसरों के समीपगत हो 'उपहसित' हो जाता है; और ऐसे ही 'उपहसित' तथा 'अतिहसित' प्रकार भी हो जाते हैं । इस प्रकार यहाँ उपसर्गों के मेल या माध्यम से सूक्ष्म अन्तर करते हुए भेदों की व्यवस्थित कल्पना की गयी है ।

---

१. तथातिहसितञ्च—ग० ।

उत्तम-प्रकृति के मनुष्यों में स्मित तथा हसित, मध्यजन में विहसित तथा उपहसित एवं अधमप्रकृति में अपहसित तथा अतिहसित प्रयुक्त किये जाते हैं ॥ ५४ ॥

अत्र श्लोकाः—

[1]ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ५५ ॥
उत्फुल्लाननेत्रं[2] तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ५६ ॥

उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में स्थित 'स्मित' (के लक्षण) में गालों का थोड़ा (हास्य के कारण) खिल जाना, नेत्रों का कटाक्ष एवं सौष्ठवयुक्त[1] होना तथा मुसकान रहने पर भी दाँतों का दिखाई न देना–होता है ५५ ॥

(तथा) 'हसित' में मुख एवं नेत्र थोड़े खिल जाते हैं, गाल फैल जाते हैं तथा मुस्कान के साथ कुछ कुछ दाँत भी दिखाई देने लगते हैं ॥ ५६ ॥

मध्यम-प्रकृति के मनुष्यों का हास्य

अथ मध्यमानाम्—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत्सस्वनं[3] मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ५७ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम्[4] ।
[5]निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ५८ ॥

---

१. सौष्ठव का अर्थ है उज्ज्वलता । धीर शब्द का अर्थ है धीरे-धीरे । जिससे यहाँ स्वल्पता का निर्वाह किया गया है । 'विकसितैरथ' में अथ पद का आशय है स्मित के पश्चात् सङ्क्रमण काल में । 'तत्' शब्द से यह सूचित किया है कि 'स्मित' ही आगे चलकर 'हसित' हो जाता है ।

१. विहसितैः—ग० । २. नेत्रैस्तु—ग० । ३. सस्वरं—ग० ।
४. निरीक्षणम्—ग० । ५. निहञ्चितांसक—घ० ।

जिसमें आँखें तथा गाल कुछ सिकुड़न लिए हों, ध्वनि अल्पता तथा मधुरता लिए हो एवं समय के [1]अनुकूल हो और जिसमें मुख प्रसन्नता के कारण लाल हो जाए तो उसे 'विहसित' हास्य जानिये। 'उपहसित' हास्य में नासिका फूल जाती है, टेढ़ीदृष्टि (जिह्म[2]) से देखना होता है और मस्तक सिकुड़ जाता है ॥ ५७–५८ ॥

अथाधमानाम्—

अस्थानहसितं यत्तु[1] साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ५९ ॥

अधमप्रकृति के मनुष्यों का हास्य

जिसमें[3] बेमौके हंसना होता हो, आँखों में (हंसते हंसते) आंसू आ जाए तथा कन्धा और मस्तक जोरों से हिलने लगे तो उसे 'अपहसित' हास्य कहते हैं ॥ ५९ ॥

संरब्धसाश्रुनेत्रं[2] च विकृष्टस्वर[3]-मुद्धतम्।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ६० ॥

जिसमें हंसते हंसते आंसुओं से आँखें भर जायँ, कर्णकटु (विकृष्ट[4]) और उद्धत शब्दों का उच्चारण हो और पसलियों को हाथों से दबाना पड़े तो ऐसे हास्य को 'अतिहसित' जानिये ॥ ६० ॥

हास्यस्थानानि[4] यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

---

१. कालागतम् = जो सभा आदि में समयगत औचित्य के अनुकूल हो।

२. जिह्मनामक दृष्टि से (अर्थात् तिरछे देखकर) भावपूर्ण निरीक्षण करते हुए। [जिह्म दृष्टि का लक्षण आगे ना० शा० ८।६१ पर द्रष्टव्य]

३. अस्थान अर्थात् अनुचित अवसर पर या शोकादि के अवसर पर।

४. विकृष्ट अर्थात् सुनने में बुरा लगने वाला।

---

१. यत्र सास्रनेत्रं—ग० २. सास्र—ग०।
३. विक्रुष्ट—ग०। ४. हासस्थानानि—घ०।

[1]नाटकों में कार्यवश (प्रसंगवश) जो हास्य स्थान आते हों उन्हे इसी प्रकार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ६१ ॥

[1]इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः ।

द्विविधास्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ॥ ६२ ॥

'हास्यरस' दो प्रकार का है (१) आत्म-समुत्थ तथा (२) पर-समुत्थ जो कि (मनुष्यों की) तीन प्रकार की प्रकृति में प्रयुक्त किया जाता है और इस प्रकार (परिगणना के अनुसार कुल) छः प्रकार का हो जाता है[2] ॥ ६२ ॥

---

१. यहाँ नाटक शब्द से रूपकसामान्य का ग्रहण समझना चाहिए ।

२. हास्य के स्वसमुत्थ से संक्रान्त न होने वाले स्मित, विहसित तथा अपहसित प्रकारों का और परसमुत्थ से तीनों प्रकृतियों के संक्रान्त होने वाले हसित, विहसित तथा अतिहसित प्रकारों का ग्रहण समझना चाहिए । हसितादि से रूप संक्रमण के द्वारा उत्कृष्ट प्रकृति में स्मितादि होते हैं । रति, शोक, क्रोध आदि का अन्यत्र संक्रमण नहीं होता यह बात पहिले कही जा चुकी है । वहाँ उनमें (उस प्रकार की चित्तवृत्ति के व्यक्ति में) जो विभाव विश्रान्ति को प्राप्त करता है वह विभाव हास्य के समान उस चित्तवृत्ति वाले पुरुष से अन्यत्र संक्रमण नहीं करवाता ।

कुछ आचार्यों ने आत्मस्थ तथा परस्थ सभी रसों के भेद माने हैं और हास्य में इनका अभिधान उपलक्षण मात्र है ऐसा कहा है परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि हास का अन्यत्र संक्रमण होता है जो अनुभव सिद्ध है । दूसरे व्याख्याकार इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'तीन प्रकार की प्रकृतियों में, तीन अवस्था वाला हास्य विभावगत तारतम्य से दो प्रकार का होने पर छः प्रकार हो जाता है यही आत्मस्थ तथा परस्थ भेद से प्रत्येक दो भेद होकर बारह प्रकार का हो जाता है और इन भेदों में पृथक्-पृथक् विभाजन व्यापार होता है ।' यह मत अतिशय विस्तारकारी होने से स्थानाभाव के कारण हम यहाँ विवेचित नहीं कर रहे हैं ।

इति हास्यरसप्रकरणम् ।

---

१. एवमात्मसमुत्थश्च तथा परसमुत्थितः । द्विविधस्त्रिप्रकृतिकः षड्भेदोऽथ रसः स्मृतः ॥ इति ग-पु० ।

करुणरस[1]

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते। [2]तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिश्श्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सु[3]क्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः। अत्रार्ये भवतः।

अब 'करुणरस' बतलाता हूँ जो कि शोक स्थायी भाव से उत्पन्न

अथ करुणरसप्रकरणम्

१. क्रमानुसार (अवसर उपस्थित होने पर) अब 'अथ करुणो नाम' इत्यादि के द्वारा 'करुणरस' का वर्णन करते हैं। यहाँ 'अथ' शब्द क्रमबोधन के लिये (रखा गया) है। कुछ टीकाकार ऐसा मानते हैं कि 'इस क्रम का कारण यह है कि सम्भोग श्रृङ्गार में अङ्गरूप से हास्य की अपेक्षा होने से श्रृङ्गार के बाद हास्य का निरूपण किया गया और विप्रलम्भ श्रृंगार तथा करुणरस में व्यभिचारिभावों की समानता होती है इसलिए हास्य के बाद करुणरस को क्रमिक रूप से अवसर प्राप्त हुआ है।' परन्तु यह पूर्वापर विरुद्ध मत है। उद्देश्य विभाग के अवसर पर क्रम का निर्देश किया जाने से तदनुकूल क्रम प्राप्त रस का ही यहाँ वर्णन उपयुक्त है।

श्री शङ्कुक का मत है कि 'संसार में दयायुक्त हृदय का भाव 'करुण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह करुण अपने दृश्यमान रोदन आदि अनुभाव वाले लिङ्गों द्वारा अभिनेता में स्थित शोक को अनुभव करने वाले सामाजिक सहृदयों में रहने से इसका 'करुण' (यह) सार्थक नाम है।" परन्तु ऐसा कथन पूर्वापर सम्बन्ध को भुला देने का परिणाम है क्योंकि इस मत में शोक का

---

१. स्पर्शनसंयोगा—ख०। २. तस्य चाश्रुपातन—ग०।
३. चिन्तौत्सुक्यावेगमोहश्रम—ग०।

होता है। यह शाप, क्लेश, पतन, प्रियजन वियोग, सम्पत्तिहानि, मृत्यु, (कारागार में) बन्धन, भगदड़, (दुर्भाग्यवश) चोट लग जाना तथा अन्य कष्टों की उपलब्धि होने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अश्रुपात, प्रलाप, मुख का सूख जाना, मुँह का उत्तर जाना

अनुकरण करने वाली 'करुणा' ही 'करुणरस ठहरती है पर दया तो दूसरों की रक्षा करने की भावना का नाम है और वह शोक का अनुकरण रूप कैसे होगी ? और सामाजिकों की दशा किसके प्रति होकर करुणरस की जनक होगी यह स्पष्ट नहीं है अतः यह मत अस्वीकार्य है।

वस्तुतः पूर्वोक्त युक्ति से साधारणीकरण व्यापार द्वारा सर्वसाधारण रूप से आस्वाद्यमान शोक का नाम करुणरस है। मूल में इसी कारण भरतमुनि ने 'नाम' शब्द का प्रयोग किया है। करुणरस 'शोकप्रभव' है यह शृङ्गार के रतिप्रभव' के समान समझ लेना चाहिए।

मूल में शाप पद का ग्रहण अशक्य प्रतीकाररूपहेतु का उपलक्षण है अर्थात् शाप कारण क्लेश में पड़े हुए इष्ट जन की जो विप्रयोग आदि दशाएँ होंगी उनसे करुणरस की उत्पत्ति होती है। विप्रयोग का अर्थ है वियोग। विभव-नाश सर्वविदित है। विद्रव का अर्थ है अपने देश से निर्वासन, यह निर्वासन केवल करुण में ही नहीं परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में भी होता है; यही इस प्रसङ्ग में विशेष उल्लेख्य है। उपघात का अर्थ है अग्नि आदि से मरण।

श्रीशङ्कुक ने जो अग्नि आदि के द्वारा होने वाली हानि को 'विद्रव' तथा चोर आदि के द्वारा किया गया सम्पत्ति नाश 'उपघात' बतलाया यह असंगत है, क्योंकि ये सभी कार्य विभवनाश के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'व्यसन' का अर्थ है मृगया या जुआ आदि अनर्थजनक कार्य के साथ सम्बन्ध हो जाना। विभव-नाश आदि होने पर भी उत्तम प्रकृति के पुरुष में आत्मगत शोक उत्पन्न नहीं करते तथा मध्यम और अधम प्रकृति के मनुष्यों में शोक उत्पन्न करते हैं यही बतलाने के लिए 'आदि' पद का ग्रहण किया गया है। स्वयं को, भाग्य को या दूसरे को उलाहना देना 'परिदेवन' है। 'निःश्वास' पद से उसके बाद होने वाले ऊर्ध्वश्वास रूप उच्छ्वास को लक्षित किया गया गया है। 'स्मृतिलोप' शब्द से स्तम्भ तथा प्रलय का (लक्षणों के द्वारा) ग्रहण होता है।

(विवर्ण) शरीर की शिथिलता उसाँसे लेना तथा स्मृति लोप आदि अनुभावों के द्वारा किया जाय। इससे निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य अश्रु तथा स्वर भेद आदि संचारी (तथा सात्विक) भाव होते हैं। इस विषय की दो आर्याएँ हैं–

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्र[1]वाद्वापि।

एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति ॥ ६३ ॥

[2]सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।

अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥ ६४ ॥

प्रिय व्यक्ति की मृत्यु[1] अथवा अमंगलकारी समाचार या शब्दों के श्रवण तथा चित्त को आघात पहुँचाने वाले भावों के द्वारा करुणरस उत्पन्न होता है ॥ ६३ ॥

वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद आदि के सात्त्विक भावों में परिगणित करने के बाद यहाँ पुनः उनका उल्लेख व्यभिचारिभाव के अन्तर्गत हुआ है। ये सात्त्विक भाव चित्तवृत्ति रूप ही हैं परन्तु इनका बाहर से प्रकाशित होने के कारण अनुभावरूप में ग्रहण किया गया है। जैसे कि कहा भी जाता है कि— 'इनका कण्ठ आँसुओं से भर गया है पर आँखों में आँसू नहीं दिखलाई देते। इन अश्रु आदि स्थितियों में सूक्ष्मचित्तवृत्तियों के अभिनय का प्रदर्शन करना इष्ट होने से इनका व्यभिचारि रूप में बीच में दो बार कथन किया गया और आगे भी किया जायगा। अतएव एक बार अनुभाव तथा दूसरी बार व्यभिचारिभाव में कथन होने से यहाँ पुनरक्ति नहीं है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए। उन्माद और अपस्मार (सामान्य) व्याधि से भिन्न होते हैं इसे आगे बतलाया जायगा।

१. यहाँ 'वध' शब्द बन्ध आदि का उपलक्षण है। विप्रिय शब्द का अर्थ है इष्टजन के वध आदि के वाक्यों का श्रवण करना [जिससे करुणरस

---

१. संश्रयाद्वा—ग०। २. श्वसनविरुदितैर्मोहोद्गमैश्च—ग०।

मंच पर इसे प्रदर्शित करते समय जोर से रोना, मूर्च्छा, पश्चात्ताप, विलाप, देह को पटकने तथा पीटने के अनुभावों को प्रस्तुत किया जाय ॥

रौद्ररस[1]

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः[1] संग्रामहेतुकः। स च क्रोधाधर्षणाधिक्षेपावमानानृतवच[2]नोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोहमात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते[3]। तस्य च ताडनपाटनपीडनच्छेदनप्रहरणशस्त्र — सम्पातसम्प्रहाररुधिरा–

की उत्पत्ति हो]। अतएव इष्टजन के दृश्यमान या श्रूयमाण विभवनाश आदि को करुणरस के विभाव के रूप में कविजन अङ्कित करें यही आशय है। यहाँ भावशब्द का विभाव अर्थ है।

अनुभाव और (उनके द्वारा) व्यभिचारिभावों को लक्षित करने के लिये दूसरी आर्या दी गयी है। इसमें प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु आदि के भेद से अनुभावादि के अनेक प्रकार होते है इसे सूचित करने के लिए बहुवचन दिया गया है। 'मोह' का अर्थ जड़ता है, रससे अन्य व्यभिचारिभाव भी उपलक्षित होते हैं। देह का आयासन अर्थात् शरीर को गिराना या मरोड़ना आदि। अभिघात अर्थात् छाती (आदि) पीटना। ये अनुभाव उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति आदि भेद को दृष्टिगत रखते हुए प्रयुक्त किये जांय।

इति करुणरसप्रकरणम्।

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

१. करुणरस के बाद 'रौद्रो नाम' इत्यादि से 'रौद्ररस' का लक्षण बतलाते हैं। यहाँ भी आत्कशब्द का प्रयोग (मूल में) किया गया है जिसका आशय है कि प्रधानतः किसी अन्यायकारिता के प्रति क्रोध होता है। सामान्यतः लोगों के मन में अन्यायकर्त्ता के प्रति उग्र भावना होती है और उस आततायी के रुधिरपान तक कर डालने की भावना मन में उठती है और लोग यह कहते भी हैं कि 'यदि ऐसा आततायी पुरुष मिल जाय तो उसका रुधिरपान करने पर भी सन्तोष नहीं होगा।' महाकवि भास ने अपने नाटक में एक स्थान पर कहा भी है कि—

---

१. मनुष्यप्रभवः—ग० २. नानृतवचनावाक्पारुष्य—ग०।
३. समुपजायते—ग०।

कर्षणाद्यानि कर्माणि[1]। पुनश्च रक्तनयनस्वेदभ्रुकुटीकरणावष्टम्भदन्तौ-[2]ष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥

[3]व्यभिचारिभावाश्चास्या[4]सम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्व— [विकृतेक्षण] [5]स्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः।

'आज न वह त्रेतायुग है न श्रीराम की प्रियभूमि जानकी है न उनका सा कोमल मन ही। पर आज भी यदि लोग रावण को पा जायें तो उसके तिल के बराबर टुकड़े करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होंगे।'

इस प्रकार हास्यरस के समान रौद्ररस के विभाव होने पर भी रौद्ररस का आस्वादन क्रोधमय होता है, अतएव उसके आस्वादन करने पर क्रोधात्मक रौद्ररस होता है, जिन पुरुषों में हिंसाभाव प्रधान रहता है उन्हें 'उद्धत' कहा गया है, अतः उद्धत मनुष्यों का वेष धारण करने वाले अभिनेता इस रस के आस्वादन के हेतु होने से प्रकृति माने जाते हैं।

प्राचीन व्याख्याकारों का मत है कि युद्ध के कारण उद्धत प्रकृति के भीमसेन आदि मनुष्यों में रौद्र की सम्भावना होती है और यह रुधिरपान आदि रूप में परिलक्षित होता है। [मूलस्थ 'संग्रामहेतुक' पद का यही आशय है] राक्षसों और दानवों की प्रकृति स्वभावतः रौद्र होती है [उनमें संग्राम हेतुक रौद्रता नहीं रहती]। यह मत अनुचित है। क्योंकि भीमसेन के द्वारा किया हुआ रुधिरपान युद्ध के कारण नहीं किन्तु उसके विपरीत स्वभाव के कारण किया गया है और उद्धत स्वभाव होने से क्रोध में आकर उन्होंने रुधिरपान की अनुचित प्रतिज्ञा कर डाली थी। उसके निर्वाह के लिये ही वेणीसंहार में में कवि ने भीम पर राक्षस के आवेश की योजना की। अतः प्रकृत्या क्रोधी होने से ही ऐसा कार्य हुआ है संग्राम के कारण नहीं। और इन्हीं का अनुकरण अभिनेता भी करता है अतः उसमें रौद्ररस पाया जाता है और इसी कारण उसे मनुष्य प्रकृति भी कहा गया है। अतएव 'संग्राम-हेतुक' का अर्थ यह है

---

१. कार्याणि—ग०। २. भ्रुटीकरदन्तौष्ठ—ग०।
३. व्यभिचारिणश्चास्य—ग०। ४. सम्मोह—ग०।
५. स्वेदवेपथु—ग०।

रौद्ररस का क्रोध स्थायीभाव होता है। इसका उद्भव राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों से संग्राम के द्वारा होता है। यह क्रोध, बलात् खींचना (आघर्षण), दुर्वचन, अपमान, असत्य वचनों द्वारा आरोप, कठोर वचन, द्रोह, मात्सर्य आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसके पीटना, फाड़ना, पीड़ा देना, छेदन, शस्त्रों का (छीनना या) लाना (प्रहरणाहरण) शस्त्रों का फेंकना, शस्त्रों से प्रहार, रुधिर निकालना और इसी प्रकार के अन्य कार्य हैं। इसका अभिनय रक्तनयन, स्वेद प्रसार, भ्रुकुटी' चढ़ाना, दाँत और ओठों का चबाना, गालों का फुलाना, हाथों का मसलना आदि अनुभावों द्वारा किया जाय। इसमें मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, कम्पन, रोमांच एवं गद्गद आदि संचारी भाव होते हैं।

कि कवि या नट द्वारा वर्णित या प्रदर्शित संग्राम का 'क्रोध' कुत्सित हेतुक है। संग्राम का उचित हेतु क्रोध नहीं होता यही बतलाने के लिये मूल में कुत्सितार्थक क प्रत्यय लगाया गया है इसीलिए 'युद्ध से प्रधानतः वीररस प्रधान रूप को ही ग्रहण करना चाहिये। [तथा युद्ध में वीररस का उत्साह क्रोध में परिणत होकर रौद्ररस हो सकता है यह भी यहाँ संकेतित किया गया है]।

स्वभावतः क्रोधी व्यक्ति को उद्दीपन की अपेक्षा होती है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपेक्षा होती है। यही बात मूल में 'स च' इत्यादि के द्वारा कही गयी हैं —क्रोध आदि दूसरों के द्वारा उत्पन्न होता है अतः उद्दीपन की स्थिति आवश्यक या सहज है। 'आधर्षण' का अर्थ है स्त्रियों आदि का अपमान करना। देश जाति, कुल, विद्या तथा कर्म आदि की निन्दा करना या उन पर आक्षेप लगाना 'अधिक्षेप' है। झूठ बात को कहना 'अनृतवचन' है। अपने घर के भृत्यों को पीड़ा देना 'उपघात' कहलाता है। वाणी की कठोरता या मारने की धमकी देना 'वाक्पारुष्य' पद का अर्थ है। 'अभिद्रोह' का अर्थ है—मारने की इच्छा। गुणों में दोष दर्शन 'मात्सर्य' है। आदि शब्द से राज्य के अपहरण आदि को लिया जाता है। उद्दीपन विभाव के रूप में कवि द्वारा प्रस्तुत इन विभावों से 'रौद्ररस' अभिव्यक्त होता है।

अत्राह—यदभिहितं [1]रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः किमन्येषां नास्ति। उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः। किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात्। बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित्समारभन्ते[2] स्वभावेन[3] चेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्[4] शृङ्गारश्च[5] तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चानुकारिणो[6] ये पुरुषास्तेषामपि संग्रामसम्प्रहारकृतो[7] रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः।

ताडन आदि इसके कार्य हैं तथा नेत्रों की रक्तता आदि अनुभाव हैं यह दोनों अनुभाव रूप होने पर भी दोनों में भेद प्रदर्शनार्थ यहाँ उन्हें पृथक् कहा गया है। भेद यह है कि ताडन आदि अनुभावों को मंच पर प्रत्यक्षतः प्रदर्शित नहीं किया जाता है और इनकी केवल वर्णना या वचनमात्र से सूचना दी जाती है। जैसा कि आगे कहा भी है—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनञ्चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥ (ना० शा० २०।३८)

[युद्ध, राज्यनाश, मरण, नगर पर घेरा डालना आदि प्रत्यक्षतः मंच पर प्रदर्शित न किये जाने वाले कार्यों को प्रवेशकों के द्वारा सूचित करना चाहिए।)

परन्तु रक्तनयन आदि जो अनुभाव हैं उन्हें मंच पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत किया जा सकता है। कुछ व्याख्याकारों के मत में मूल में प्रहरण तथा आहरण का पाठ प्रमादवश आ गया है और इनके विभागों के पृथक् कथन का प्रयोजन महत्वपूर्ण नहीं है।

यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के

---

१. राक्षसादीनां——ग०। २. समारभान्ते—ग०।
३. स्वभाव चेष्टितं—ग०। ४. रौद्रमेवेति—ग०।
५. वाक्यमेतन्नोपलक्ष्यते—ग-पु०। ६. चानुगामिनो—ग०।
७. तेषामपि सम्प्रहारकृतो—ग०।

(प्रश्न)—यदि राक्षस दानव आदि में रौद्ररस होता है तो क्या वह अन्य व्यक्तियों में नहीं होता ?

(उत्तर)—हाँ यह अन्य व्यक्तियों में भी उत्पन्न हो सकता है परन्तु राक्षस आदि को विशेष रूप से यहाँ इस रस का अधिकारी माना गया है।

मनुष्य उद्दीपक कारणों के बिना भी जो सामान्य चेष्टाएँ या कार्य करते हैं (यहाँ तक कि नर्मगोष्ठी के वार्तालाप तक उनमें ताडन आदि की प्रमुखता रहती है। यही बात आगे 'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' इत्यादि से कही जायगी। इसी कारण ताडनादग्रस्त पुरुष में उद्दीपन के होने पर रक्तनयन आदि और अधिक हो जाते हैं यही बात 'पुनः शब्द से कही गयी है।

शरीर के ऊपरी तले पर चोट करना 'ताडन' है। 'पाटन' का अर्थ है दो टुकड़े कर डालना। 'पीडन' का अर्थ है दबाना या मलना। 'छेदन' का अर्थ काटना और 'भेदन' का अर्थ एक दूसरे को अलग करना है। इन शब्दों में भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है। शस्त्रों का सभी ओर से प्रहार करना 'प्रहरणाहरण' है। शस्त्रों का ऐसा प्रहार करना जिससे कोई अंग विदीर्ण न हो 'सम्प्रहार' कहलाता है और शरीर का शस्त्र प्रहार से विदीर्ण होना 'पातन' है, इससे रक्तस्राव भी होता है [अंग भंग नहीं]। राक्षस आदि परस्पर परिहास के समय भी प्रहार करते हैं पर इससे रक्त निकलता है [अङ्ग-भङ्ग नहीं होता]।

'रक्तनयन' का अर्थ है लाल आँखें हो जाना। भौहों का नीचे से ऊपर को उठना 'भ्रुकुटी कहलाती है। दांत और ओठों का पीडन अर्थात् दाँतों से ओठों का चबाना 'पीडन' कहलाता है और दोनों हाथों के अगले भागों को एक दूसरे के द्वारा मसलना 'सङ्घर्ष' कहलाता है।

मूल में दिये गये 'भाव' शब्द से व्यभिचारिभाव का ग्रहण होता है। 'असम्मोह' को सम्मोह के विपरीत परिज्ञान के अर्थ में लिया गया है। यहाँ विरोध में 'नञ्' का प्रयोग है (अर्थात् 'न सम्मोह' असम्मोहः सम्मोहविपरीतः इत्यर्थः) सम्मोह में रहने वाला अर्थात् उससे असंगृहीत ज्ञान या सम्यक् ज्ञान 'असम्मोह' है। यहाँ क्रोध के प्रधान रूप से अनुभव या आस्वाद्य होने के कारण (वीर रस का स्थायी भाव स्वरूप) उत्साह व्यभिचारिभाव है। विष के स्पर्श या ज्वरादि के कारण आभ्यन्तर या आन्तरिक भाव के बिना भी बाह्य स्वेद

इसका कारण यह है कि वे स्वाभावतः रौद्र स्वरूपवाले हुआ करते हैं, क्योंकि उनकी अनेक भुजायें एवं अनेक मुख होते हैं, वे चारों ओर बिखरे हुए अपने पीले केशों, लाल और घूमते हुए नेत्रों तथा काले वर्ण वाले होने से भयंकर होते हैं। (इसके अतिरिक्त उनके जो भी कार्य, सम्भाषण तथा

आदि देखे जाने से ये व्यभिचारिभाव हैं, ये अव्यक्त होने पर आन्तर (सात्विक) भाव कहे जाकर पंखा आदि के ग्रहण करने आदि क्रियाओं के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। यहाँ बाह्य स्वेदादि से प्रकट रूप में दिखाई देने वाले (सात्त्विक-भाव) व्यभिचारिभाव के रूप में कहे गये हैं।

राक्षस आदि में ही रौद्ररस की स्थिति मानने पर (फिर) मनुष्यों में उसकी स्थिति नहीं रहनी चाहिए ऐसी आशंका से पूर्वपक्षी 'यदभिहितम्' इत्यादि से अपना प्रस्तुत करता है कि जो रौद्ररस राक्षस आदि में बतलाया गया है वह क्या मनुष्यों में नहीं होता ? उत्तर में भरत ने बतलाया कि मानवादि में रौद्ररस की स्थिति होती है यही बतलाने के लिए मूल में 'अन्येषां' पद दिया गया है। 'अन्य' शब्द का आशय है कवि या अभिनेता के द्वारा राक्षस आदि के अनुकरण कर्त्ता मनुष्य (जो राक्षस आदि के कार्यों का अनुकरण कर रौद्ररस की अभिव्यक्ति करते हैं) है। 'अधिकार' शब्द का अर्थ यहाँ 'अनुवृत्ति' (प्रवृत्ति) है। स्वभाव शब्द के बाद 'एव' पद के प्रयोग से राक्षस आदि में रौद्ररस अवश्य रहता है यह भाव अयोग व्यवच्छेदक से सूचित किया गया है। 'स्वभावतः' का अर्थ है उनका अपना स्वरूप (भाव) अतएव उनमें आङ्गिक रौद्ररस का वर्णन (भी) उचित होता है अन्यथा लाल आँखें इत्यादि से स्वाभाविक रौद्र का ही अभिनय होगा, अनेक बाहु मुखादि के द्वारा आङ्गिक रौद्र का अभिनय नहीं होगा।

(प्रश्न) अपने सेवक आदि के प्रति राक्षस आदि सदा क्रुद्ध नहीं देखे जाते फिर उन्हें स्वभाव रौद्र क्यों कहा गया ? (उत्तर) उनका आकार लोक पसिद्ध मनुष्यादि के आकार से भिन्न होता है, यही मूल में 'बहुबाहवः' से उत्तर दिया है और 'बहुबाहवः' होने का कारण कोई तपश्चर्या या कोई इष्टकर्म होता है, जिसका उद्देश्य दूसरे (शत्रु आदि) का नाश करना होता है। इसी कारण राक्षस आदि स्वाभाविक रूप में भी क्रोधात्मक आशय से युक्त प्रतीत होते हैं और उनसे सामाजिकों को रौद्ररस का ही आस्वादन होता है।

शारीरिक चेष्टायें होती हैं वे भी प्रकृत्या रौद्र (ही) होती हैं। इसलिए सरलता पूर्वक यही मानना उचित है कि जो इनके अनुकर्ता पुरुष हों उनके युद्ध तथा प्रहार आदि से विहित रौद्र-रस उत्पन्न होता है।)

और इन्हीं उपर्युक्त कारणों से उनमें राग के समान क्रोध के अवसर पर जो रक्तनेत्र आदि लक्षण दिखलायी देते हैं वे सहज होने से सदैव विद्यमान रहते हैं। उनके नेत्र लाल और चढ़ी हुई पुतलियों वाले होते हैं और उनका रूप भी सदा काला और अत्यन्त भयानक होता है। इस प्रकार केवल उनका शरीर ही क्रूर नहीं होता किन्तु उनके दृश्यमान कार्य भी रौद्ररस का आस्वादन करवाने वाले होते हैं इसे मूल में—'यच्चेति' इत्यादि से बतलाया गया है। 'स्वभावेन' पद से चित्त में क्रोधजन्य विकार न होने पर भी उनका वाचिक या कायिक व्यापार क्रोधात्मक का ताडन आदि प्रधान होता है और इसलिए काव्य या नाट्य में वर्णन या पदर्शन होने पर वह रौद्ररस के आस्वादन का कारण हो जाता है। 'वागङ्गादिकं' का अर्थ है—ऐसे वाचिक तथा कायिक व्यापार जिनके कारण वाणी या शरीर हों—का रौद्ररस प्रधान हो जाना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण मानस व्यापार का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया (पर वह भी रौद्ररस प्रधान होता है यह मानना चाहिए)।

यहाँ मूल में 'सर्वमिति' के द्वारा कहे गये विषय की 'शृंगारश्च' इत्यादि से स्पष्ट किया जाता है। शृङ्गार शब्द से यहाँ उसके प्रमदा, उद्यान आदि विभावों का ग्रहण होता है। उनका भी ये बलात् अर्थात् भयङ्कर आकार के द्वारा ही उपभोग करते हैं। जिस शृंगार में उग्रता का निषेध हो उसे भी जब क्रूरता या उत्तेजना वश सेवन करते हैं तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या है, यही 'च' शब्द का तात्पर्य है और 'प्रायशः' शब्द से यह सूचित किया गया है कि कभी-कभी अनुनय से भी ये शृङ्गार-रस का उपभोग करते हैं।

'तो फिर उद्धत पुरुषों में रौद्र आदि आवेग (विकार) कैसे उत्पन्न होते हैं ? क्योंकि वे तो अनेक बाहु आदि से युक्त नहीं होते हैं ?) ऐसी आशङ्का के समाधानार्थ मूल में 'तेषाञ्च' इत्यादि से कहा गया है। अर्थात् उन राक्षसों के कार्य, प्रकृति आदि का अनुकरण करने वाले मनुष्य भी तामसप्रकृति के कारण उन्हीं के समान समझे जाने चाहिए।

और वे जो स्वाभाविक रूप में वाचिक या आंगिक व्यापार प्रारम्भ करते हैं वे भी रौद्र ही होते हैं। ये शृङ्गार का भी बलात्कारपूर्वक सेवन करते हैं। इनकी चाटुकारिता, सेवा या स्तुति करने वाले जो मनुष्य हों उनमें भी युद्ध तथा चोट करने की वृत्ति के सहज (कारणीभूत) होने से रोद्ररस मान लेना चाहिए।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः

[1]युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः[2] सञ्जायते रौद्रः ॥ ६५ ॥
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः[3] प्रयोक्तव्यः ॥ ६६ ॥

उनमें रौद्ररस कैसे होता है इसे 'संग्राम' आदि से कहते हैं। 'सम्प्रहार' पद से पूर्वोक्त ताडन तथा पाटन आदि का ग्रहण होता है। इसलिये बहुबाहुत्व आदि के न होने पर भी उद्धत मनुष्य क्रोध के उपयुक्त वाचिक तथा शारीरिक व्यापार से रौद्रस्वभाव ही हो जाते हैं यह सूचित किया गया है। इस प्रकार राक्षस तथा दानव आदि में रौद्ररस का अयोग व्यवच्छेद निश्चित होता है पर अश्वत्थामा, परशुराम आदि इन उद्धत प्रकृति के पुरुषों से भिन्न वीर रस प्रधान हैं। इनमें कारण विशेष से रौद्ररस के अनुकूल क्रोध पाया जाने पर भी उसका नित्य सम्बन्ध नहीं होता। और राक्षस आदि से भी विभिन्न कारणों से क्रोधाभिनय के समय में क्रोधाभिनय करने वाले हास्य, करुण आदि का भी प्रदर्शन देखा जाता है अतः इनमें केवल रौद्ररस ही रहता है यह नहीं कहा जा सकता है।

(प्रश्न) तो फिर इस प्रकार के (रूप तथा स्वभाव वाले) राक्षस आदि को देखकर सामाजिकों को क्रोधात्मक आस्वाद की प्रतीति कैसे होती है? (उत्तर) हृदय-संवाद (तादात्मक) ही आस्वाद रूप होता है तथा क्रोध में तामस प्रकृति वाले सामाजिकों का ही तादात्म्य होता है, अतः वे अन्याय करने वाले के विषय में क्रोध का (रौद्ररस के रूप में) आस्वादन करते हैं, अतएव इसमें दोष नहीं माना जायगा।

१. सत्वप्रहार—ग०; युद्धप्रहारपातन—ख०।
२. सम्भ्रमोत्थै—ग०। ३. शेषैस्तस्याभि—ध०।

इस विषय में ये अनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

रौद्ररस युद्ध, प्रहार, चोट, विकार,[1] छेदन, विदारण, (युद्ध में) त्वरित व्यापार (अथवा घबड़ाहट) आदि के द्वारा प्रकट होता है ॥ ६५ ॥

इसके अभिनय में अनेक शस्त्र प्रहार, सिर, भुजायें तथा धड़ काटना तथा इसी प्रकार अन्य विशेष कार्यों द्वारा किया गया कार्य उपयुक्त होता हैं ॥ ६६ ॥

इति रौद्ररसो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
[1]शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उग्र वाचिक तथा कायिक व्यापारों से युक्त-शस्त्रप्रहार की मात्रागत अधिकता लिए हुए और भयानक (कार्य और) क्रियाओं से परिपूर्ण रौद्ररस देखा जाता है ॥ ६७ ॥

---

१. 'विकृतच्छेदन' का अर्थ है अङ्गहीन करना आदि । 'युद्ध' पद से दूसरों के द्वारा किये गये छेदनादि व्यापार का औचित्य सूचित पोता है । इसीलिये युद्ध आदि के प्रसङ्ग में अनुमित के आधार पर अन्य व्यक्तियों के क्रोधादि का बिभावत्व सूचित होता है । 'संग्राम सम्भ्रम' का आशय है शस्त्र के ग्रहण करने में शीघ्रता करना ।

(दूसरी आर्या में 'नाना' इत्यादि से अनुभाव को बतलाते हैं ।) यहाँ 'नानाप्रहण' पद के द्वारा रौद्ररस में मारण की प्रमुखता बतलायी गयी है और क्रोधातिशय के कारण युद्धस्थल पर मृतशत्रु के मस्तक काटने आदि की सूचना से रौद्र का वीररस से भेद दिखलाया गया है, क्योंकि युद्धवीर में ऐसा कार्य नहीं होता है । रौद्ररस में मृतशरीर के शिरच्छेदन आदि कार्य को 'उप-कर्मक्रियात्मकः' के द्वारा कहा गया है, क्योंकि रौद्ररस में क्रोधावेश में आकर उपकर्म अर्थात् शत्रु के मस्तकच्छेदन आदि भयङ्कर कृत्यों से (अर्थात् उनकी अभिनय क्रिया से) पूर्ण 'रौद्र' रस अभिव्यक्त होता है ।

इति रौद्ररसप्रकरणम् ।

---

१. प्रहरणसङ्कुलशिरः—ग० :

वीररस[1]

अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासंमोहाध्यवसाय-न[1]यबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्य[2] धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चप्रतिबोधादयः ।

अत्रार्ये[3] [रसविचारमुखे]—

वीररस उत्तम प्रकृति के पुरुषों में अवस्थित तथा उत्साह स्थायीभाव

अथ वीररसप्रकरणम्

१. (अब) क्रम प्राप्त वीररस का लक्षण बतलाते हैं :—

रौद्ररस के समान युद्धवीर में भी संग्राम, सम्प्रहार आदि रहते हैं इसी कारण रौद्ररस के पश्चात् वीररस का क्रम निधारित किया गया है और इसी आनन्तर्य को मूल में 'अथ' शब्द के द्वारा कहा गया है । उत्साह उत्तमजन की प्रकृति या स्वभाव होने से उत्साह स्थायीभाव वाला वीररस (भी) उत्तम प्रकृति है । अथवा काव्य या नाटच में स्थित उत्तम प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण इसे 'उत्तम प्रकृति' समझना चाहिये । क्योंकि उत्तम वर्णों का उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य होता है । (नाटच व काव्य में) चार प्रकार के नायकों को धीर शब्द के अनुगत कहा गया हैं (जैसे 'धीरोदात्त' इत्यादि ।) इन वर्गों में प्रायः सभी उत्साहवान् होते हैं किन्तु जिनका वर्णन कवि द्वारा विवक्षित नहीं उनके चरित्र का वर्णन नहीं होता ।

जिनका चरित्र किसी उपदेश या आदर्श को प्रकट करने के योग्य होता है उनके उत्साह की अभिव्यक्ति उचित अवसर पर होती है, और अवसर का औचित्य असम्मोह आदि दशायें हैं इसलिए ये ही विभाव रूप में यहाँ कही गयी हैं । 'असम्मोहाध्यवसाय' का अर्थ है, निर्भ्रान्त वस्तु के तत्व का निश्चय, जिससे मनुष्य की विचार शक्ति को प्रकट किया गया है ।

---

१. नयविनयबहुल—ग० । २. सञ्चारिभावा—ग० ।

३. अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः :

वाला होता है। यह प्रत्युत्पन्न-मतित्व, असम्मोह, अध्यवसाय, नीति(विनय), बल (सैन्य), पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, चातुर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें धृति; मति, गर्व, आवेग, औग्र्य, अमर्ष, स्मृति, रोमांच आदि संचारी तथा सात्त्विक भाव होते हैं।

(प्रश्न) यदि 'असम्मोहाध्यवसाय' को उत्साह का कारण माना जाय तो फिर रावणादि में असद्वस्तुविषयकआग्रह रूप सम्मोह ही उत्साह का जनक देखा गया है (अतः असम्मोहादि को उत्साह का कारण कैसे माना जा सकता है) (उत्तम) यह कथन ग्रन्थकार के शब्दों से भिन्न होने के कारण इष्ट नहीं है (क्योंकि 'असम्मोहाध्यवमाय' को ही उत्साह का जनक माना गया है, सम्मोह को नहीं) और जिस सम्मोह को उत्साहजनकत्व (आप) समझ रहे हैं वहाँ भी पराक्रम और नीति आदि उत्साह के जनक विद्यमान होने से ये ही विभाव हैं [अर्थात् ऐसी दशा में सम्मोह के स्थान पर पराक्रम तथा नीति आदि विभाव होते हैं]।

नीति में सन्धि आदि, छः गुणों का उचित प्रयोग 'नय' कहलाता है। इन्द्रियों का नियमन या विजय 'विनय' है। जिसमें हाथी, घोड़े तथा पैदल सैन्य सम्मिलित हों वह सेना 'बल' है। शत्रुसैन्य को आक्रमण कर पराजित कर देना 'पराक्रम' हैं। यहाँ 'शक्ति का अर्थ है युद्ध आदि का सामर्थ्य। शत्रु को सन्तप्त करने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' है। कुलमर्यादा, सम्पत्ति तथा मन्त्रि आदि की पूर्णता 'प्रभाव' कहलाता है। मूल में दिये गये 'आदि' शब्द से यश आदि को लेना चाहिये। सब मिल कर ही वीररस के जनक 'विभाव' कहलाते हैं। उत्तम पुरुषों में इनमें से कोई कभी अधिक या न्यून हो सकता है।

इसका वास्तविक उदाहरण श्रीराम का समग्रचरित है। जिन नाटकों में नायक अपने मन्त्रि पर आश्रित रहे तो मन्त्रि में भी ये गुण रखे (माने) जा सकते हैं और प्रतिनायक में ये गुण रहने पर भी उत्साह के व्यञ्जक हो सकते हैं। अतएव कवि को अलग अलग गुणों वाले तथा सम्मिलित गुणों वाले विभिन्न चरित्रों (चरितों वाले पात्रों) की स्वयं यथोचित कल्पना कर लेना चाहिए।

'स्थैर्य' का अर्थ है अविचल रहना। गम्भीरता के कारण अपने मानसिक भावों का आच्छादन करना 'धैर्य' है। युद्ध आदि की क्रिया 'शौर्य' और दान

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥ ६८ ॥
[1]स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ ६९ ॥

इस विषय में ये (दो) आनुवंशीय आर्यायें हैं :—

अध्यवसाय, विषाद, विस्मय एवं मोह-शून्यता, सतर्कता तथा इसी प्रकार के अन्य विशिष्ट अर्थों के द्वारा उत्साहात्मा वीररस उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

देना 'त्याग' है । साम, दान आदि चारों उपायों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना 'वैशारद्य' है ।

धर्मादि रूप विभिन्न पुरुषार्थों को लक्ष्य में रखते हुए विषाद, विस्मय तथा मोह से रहित होकर अध्यवसाय रूप जो निश्चय होता है वह उत्साह का जनक होने से 'उत्साह' कहलाता है और यही वीररस का स्थायीभाव माना जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि आपद्ग्रस्तता, अल्पसन्तोष तथा मिथ्याज्ञान को छोड़कर जो तत्व सम्बन्धी निश्चय किया जाता है उनमें उत्साह मूलतः मुख्य कारण होता है और रौद्ररस में तमोगुण को प्रमुखता होने से, अनुचित तथा अशास्त्रीय बन्धनादि होने से वहाँ मोह तथा विस्मय की ही प्रधानता होती है यही पार्थक्य है ।

'स्थिति' का अर्थ स्थिरता है । 'वीर्य' का अर्थ है शौर्य । 'गर्व' पद से वीररस के अनुभावों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए । 'उत्साह' पद से निर्बल या निराश पुरुष को उत्साह देना उत्तेजित करना अभिप्रेत है, जैसे सेतुबन्ध में है । दूसरे (शत्रु) पर आक्रमण करना 'पराक्रम' है । युद्ध में सैनिकों को कार्य बतलाते नियोजित करना तथा सैन्यसंचालन 'प्रभाव' सम्पादन समझना चाहिये । शत्रु पर अन्यथा आरोप करना 'आक्षेप' कहलाता है । ऐसे आक्षेप-पूर्ण वचनों के कथन से भी 'वीररस' की उत्पत्ति होती है (और इससे आक्षेप वचनों के अर्थों की गम्भीर और दुर्ज्ञेय होने की सूचना भी मिलती है ।)

इति वीररसप्रकरणम् ।

---

१. स्मृति धैर्यवीर्यशौर्योत्साह—

इस वीररस का अभिनय स्थिरता, धैर्य, वीर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव तथा आक्षेपपूर्ण कथोपकथन द्वारा किया जाय ॥ ६९ ॥

भयानक रस

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। स च विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारार[1]ण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य प्रवेपितकरणचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः॥

व्यभिचारिभावाश्चास्य[2], स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेग[3]चापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः।

अथ भयानकरस प्रकरणम्

भयभीत पुरुष को मुख्यरूप से अभयप्रदान करने वाला वीररस होता है अतः उसी के बाद क्रमशः भयानक रस आता है। इसका 'अथ' इत्यादि से स्वरूप बतलाते हैं :—'विकृतत्व' अर्थात् अट्टहासादि शब्द, सत्वों का अर्थात् भूत, प्रेत, पिशाच आदि का दिखलाई देना। दूसरे में स्थित भय और घबराहट भी भयानक रस के कारण होते हैं। शून्य गृह या शून्यवन में पहुँचना, अपने सम्बन्धियों का वध या बन्वन प्रत्यक्षतः देखना या उसका किसी के द्वारा श्रवण करना। 'कथादि' का आशय है कि स्वजन की बीती घटनाओं के पुनः चिन्तन या स्मरण होने आदि कारणोंसे भी भयानकरस की उत्पत्ति होती है।

'प्रवेपितं' का अर्थ है हाथ पैर का कांपने लगना, आदि कर्म से व्याधि आदि में होने वाले कम्प के भिन्नत्व की सूचना द्वारा यहाँ भय की व्यञ्जकता बतलायी है। पुलक का अर्थ हैं रोंगटे खड़े हो जाना। स्वर का भेद अर्थात् स्वर का (स्वाभाविक) परिवर्तन हो जाना भय के अनुभाव हैं।

प्रथम आर्या में दिये गये गुरु तथा नृत्य इत्यादि शब्दों का आशय यह है कि स्त्री, नीच तथा बालक आदि में सहज भय होता है यह आगे कहेंगे पर

---

1. रण्यप्रवेश—घ०। 2. भावाश्चास्य—ग०।
3. वेगचापलत्रासापस्मार—ग०।

आनुवंश्या अत्रार्याः भवन्ति—

भयानक रस का स्थायीभाव भय होता है। यह (अट्टहासादि) विकृत-शब्द, हिंसक-जन्तुओं के दर्शन (शब्द तथा रुदन), सियार तथा उल्लू के (या पिशाच, भूत, प्रेत आदि के) द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य अरण्य एवं गृह में प्रवेश, आत्मीय व्यक्ति के वध तथा बन्धन का दर्शन श्रवण तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय धूजते हुए हाथ पैर तथा फड़कते हुए नेत्रों, रोमांच, मुँह का उत्तर जाना तथा स्वरभेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें स्तम्भ, स्वेद, गद्गद हो जाना, रोमांच, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, जड़ता, त्रास, अपस्मार तथा मरण आदि संचारी (तथा सात्त्विक) भाव होते हैं।

इस विषय में ये आनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

विकृतरवसत्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥ ७० ॥

उत्तम तथा मध्यम प्रकृति (के पुरुषों) में यह स्वाभाविक नहीं होता, परन्तु उन्हें भी गुरु तथा राजा से भय दिखलाना पड़ता है एवं उस भय के होने पर भी उनका उत्तमत्व रहता ही है तथा राजा से भयभीत होने के द्वारा मन्त्रियों का अप्रभूत्व या विनय ही सूचित होता है। जैसे रत्नावली में—'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः (र० १।७) ['स्वेच्छाचार करते हुए मुझे स्वामी से भय लगता है'] इत्यादि मन्त्री ने कहा है।

यहाँ उपर्युक्त भावना से ऐसे सुसंगत रूप से कार्य (अनुभाव) किये जाते हैं जिससे गुरु आदि को यह प्रतीति हो जाय कि यह सचमुच डर रहा है। अस्वाभाविकता रहने से इसे कृत्रिम (कृतक) भाव कहा गया है। यह भाव बहुत समय तक विद्यमान रहकर आस्वाद्ययोग्य होने के कारण 'भयानकरस' कहलाता है। यहाँ 'भय' संचारी (या व्यभिचारिभाव) नहीं है क्योंकि व्यभिचारिभाव तो तभी होगा जब वह स्वभावतः क्षणस्थायी हो (पर भय वैसा नहीं है, अतः वह व्यभिचारिभाव नहीं किन्तु स्थायी है।)

गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥ ७१ ॥
एतत्स्वभावजं स्यात्सत्वसामुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥ ७२ ॥

गात्रमुख इत्यादि कारिका से अब अनुभावों का उल्लेख करते हैं। गात्र का अर्थ है—मुख और दृष्टि आदि का भेद उनके रंग (कार्य) और स्थिति आदि में परिवर्तन हो जाना। 'अभिवीक्षण' का अर्थ है— भय के कारण इधर उधर देखने लगना जिसमें किसी एक स्थान पर चक्षुः नहीं ठहरते हों। 'उद्वेग' का अर्थ है—विचलित हो जाना। 'साद' का अर्थ है—अंगों का सुन्न या शिथिल हो जाना। मुखशोषण का तात्पर्य है तालु का सूख जाना। 'हृदय-स्पन्दन' का अर्थ है हृदय की गति का (वेग) बढ़ जाना। 'भयम्' का सम्बन्ध वीररस की आर्या में प्रयुक्त पद 'अभिनेयम्' क्रियापद से लेकर अर्थ होगा। इसका कारण यह है कि ये आर्यायें आचार्यों ने भयानकरस के साथ वीररस के लक्षण को लिखते हुए एक साथ पढ़ी थीं, जिन्हें भरतमुनि ने उचित स्थान पर समाविष्ट कर दिया। अतः 'अभिनेयम्' क्रियापद का दोनों वर्ण्य रसों के साथ अन्वय करना उचित है।

एतत्स्वभावजम्—इत्यादि। यहाँ 'सत्व' शब्द का अर्थ है मन की आन्तरिक दशा। उससे उत्पन्न भय 'सत्वसमुत्थ' होता है। अभिनयादि का निर्देश यहाँ केवल नट के लिए ही नहीं किन्तु दर्शक, सामाजिक आदि सभी के लिए है ऐसी शंकुक आदि प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या है परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि यह सारा प्रकरण (तथा नाट्यशास्त्र भी) कवि तथा अभिनेताओं के शिक्षण के हेतु ही निर्मित है। और विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि का व्यवहार लोक में नहीं होता, अतः स्पष्ट है कि इनकी योजना रसबोध के लिए होती है और लोकजीवन में उनकी समानता नहीं मिल सकती। 'स्वाभाविक' आदि का आशय यह है कि स्वाभाविक भय राजस और तामस प्रकृति के अर्थात् नीच प्रकृति के व्यक्तियों में होता है पर जो सात्विक प्रकृति के व्यक्ति हैं उनमें स्वाभाविक भय नहीं रहता किन्तु मनःकल्पित या प्रयत्नकृत भय होता है। इसका अभिनय भी इन्हीं वर्णित

करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन[1] ।
शुष्कोष्ठ-तालु-कण्ठैभयानको नित्यमभिनेयः ॥ ७३ ॥

विकृत शब्द, भयंकर जन्तुओं के दर्शन, युद्ध, अरण्य एवं सूने घरों में जाने तथा गुरुजन एवं राजा के अपराध आदि हो जाने के कारण भयानक रस उत्पन्न होता है ॥ ७० ॥

शरीर (हाथ (पैर आदि) के अवयवों, मुख तथा नेत्रों के परिवर्तन, पिण्डलियों के जड़ होने, चारों ओर देखने, उद्विग्न होने, झुके हुए मुँह के

अनुभावों के द्वारा किया जाए किन्तु चेष्ठायें थोड़ी मृदु रहनी चाहिए क्योंकि यह 'कृत्रिम भय' है। यहाँ 'पुनः' शब्द से सहज और कृत्रिम भय में भेद निर्दशित किया गया है।

(प्रश्न) शक्तिशाली होने पर भी राजा आदि गुरु आदि से कृत्रिम भय क्यों दिखलाते हैं? और भय दिखलाने पर मृदु गात्रकम्पन आदि को क्यों प्रकट करते हैं? और केवल भयानकरस को ही कृत्रिम क्यों कहा गया जब कि इस प्रकार सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं। जैसे कि वेश्या धन की अभिलाषा से कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करती है। ऐसी आशंकाओं का एक सामान्य उत्तर यह है कि 'इसका इसी प्रकार अभिनय करना चाहिए।' क्योंकि अपने गुरु के सम्मुख भय प्रदर्शित करने पर राजा को गुरु विनयशील मानते हैं। और यह भय मृदु चेष्टाओं के द्वारा प्रस्तुत या प्रदर्शित करने पर उसे अधम प्रकृति का नहीं समझा जाता। कृत्रिम शृङ्गार के प्रसङ्ग में कहा गया है कि वेश्या विषयक रति से पुरुषार्थ की सिद्धि वेश्यासक्तों को नहीं होती। पर यहाँ उक्त प्रकार के कार्य से प्रयोजन या पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। पर जहाँ दूसरों पर अनुग्रहार्थ राजा कृत्रिम क्रोध आदि को प्रदर्शित करे वहाँ चिरकाल तक स्थित न होने के कारण वह व्यभिचारिभाव समझना चाहिए।

इसी अर्थ को बतलाने के लिए अपनी गुरु एवं वंश परम्परा में प्रसिद्ध 'करचरण' इत्यादि आर्या को भरत यहाँ प्रस्तुत करते हैं। 'यहाँ नृत्य' पद से भय के स्वाभाविक (अकृत्रिम) तथा कृत्रिम होने पर एक ही प्रकार से अभिनय किया जाने का आशय प्रकट होता है।

इति भयानकरसप्रकरणम्।

---

१. हृदयप्रकम्पेन—ग० :

सूखने, हृदय के धड़कने तथा रोमांच आदि से 'भय' अभिनीत होता है।

यह स्वाभाविक भय का लक्षण है। किसी हिंसक पशु के देखने से उत्पन्न भय भी ऐसा ही होता है अथवा सात्विक भावों से प्रकट होने वाला भय भी इसी प्रकार प्रकट किया जाना चाहिए तथा इन्हीं भावों से बनावटी 'भय' का प्रदर्शन भी होता है, परन्तु उसमें चेष्टाएँ थोड़ी हलकी (मृदु) होती हैं ॥ ७२ ॥

भयानक रस का अभिनय हाथ-पैरों के कम्पन, शरीर के स्तम्भन तथा संकोच, हृदय के कम्पन, तालु के शोषण तथा ओष्ठ और हृदय के कम्पन के द्वारा किया जाय ॥ ७३ ॥

बीभत्सरस

अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्या [प्रशस्ता] [1]प्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजन[2] [परि] कीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य च [3]सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगा[4]-वेगमोहव्याधिमरणादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

अथ बीभत्सरस प्रकरणम्

अब अवसर प्राप्त 'बीभत्सरस' का लक्षण 'अथ इत्यादि से करते हैं।

'अहृद्य' का अर्थ है अग्राह्य। कोई वस्तु हृद्य होने पर भी दूसरों के लिए स्वभाव से ही अत्यन्त अप्रिय [अग्रह्य] होती है, जैसे ब्राह्मणों के लिए लहसुन। धातुदोष अर्थात् वात, पित्त या कफ के कुपित होने पर भी कुछ वस्तुएँ अप्रिय लगती हैं। 'अचोष्य' का अर्थ है—अपने स्वरूप से दुष्ट न होने पर भी मलादि से सक्त। 'अनिष्ट' का अर्थ है—जिसके निरन्तर सेवन से अधिक सेवन की इच्छा न रहना। सर्वाङ्ग-संहार अर्थात् उनको एकत्र करना या सिकोड़ना। 'मुखविकूणन' अर्थात् मुख के अवयव नाक, भौहें आदि को सिकोड़ना। 'उल्लेखन' का अर्थ वमन करना है। कफ का थूकना 'निष्ठीवन' है तथा 'उद्वेजन' का अर्थ है शरीर को हिलाना।

---

१. प्रियावेक्षा—ग०, प्रियाचोक्षा—घ०। २. दर्शनपरिकीर्तनादि-ग०।
३. सर्वाङ्गहारमुखनेत्रविघूर्णनं हृल्लेखनिष्ठीवन—ग०।
४. स्यापस्मारावेग—घ०।

(गद्य भाव) अब बीभत्सरस बतलाते हैं। इसका 'जुगुप्सा' स्थायी भाव होता है। यह असुन्दर एवं अप्रिय पदार्थों के अवलोकन, अनिष्ट वस्तु के दर्शन तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सभी अङ्गों के संकोच, मुख को सिकोड़ने, घुमाने, ऊपर की ओर ले जाने और थूकने तथा अंगों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। इनमें अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि संचारीभाव होते हैं।

इस विषय की प्रतिपादक भिन्न आर्याएँ हैं :—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ ७४ ॥
[1]मुखनेत्रविघूर्णननयननासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्तपादपतनै र्बीभत्सः[2] सम्यगभिनेयः ॥ ७५ ॥

(यह) अप्रिय घिनौने पदार्थ के दर्शन, तथा अप्रिय-गन्ध, रस, स्पर्श शब्द तथा दोषों से पूर्ण अनेक प्रकार की त्रासादायक वस्तुओं के अनुभव करने पर 'बीभत्स' रस उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥

मुँह[1] एवं नेत्रों को घुमाने, नाक और आँखों के वक्र करने, मुँह को झुकाने और अकस्मात् (बिना जाने) पैरों को टिकाने, उठाने आदि के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ७५ ॥

---

१. अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त स्थानों या घृणित पदार्थ देखने पर नाक का दबाना प्रायः लोक में देखा जाता है। 'अव्यक्तपादपतन' का अर्थ है परस्पर टकराने, उठाने आदि के द्वारा पैरों का गिरना या हड्डी और कङ्कालों से भरे हुए श्मशान में घूमते हुए व्यक्ति के द्वारा अस्पष्ट अर्थात् कहीं लम्बे और कहीं छोटे डग भरना।

इति बीभत्सरसप्रकरणम्।

---

१. मुखनेत्रविकूणनया—घ०।
२. सम्यगभिनयः प्रयोक्तव्यः—ग०।

अद्भुतरस—

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः स च दिव्यजन-दर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलाभिगमनसभा[1]विमानमायेन्द्र-[2]जालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षण-रोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलि[3]-भ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। [4]भावाश्चास्य स्तम्भाश्रुस्वेद[5]-गद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमप्रहर्ष[6]-चपलतोन्माद-धृतिजडताप्रलयादयः। अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

(गद्य भाग[1]) अब अद्भुतरस बतलाते हैं, जो 'विस्मय' स्थायीभावात्मक है। यह दिव्य जन के दर्शन, इष्ट मनोरथों की प्राप्ति, उद्यान तथा सभा-भवन, सतमंजिले भवन (विमान) माया तथा इन्द्रजाल के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका नेत्रों के विस्तार, इकटक देखना

अथ अद्भुतरसप्रकरणम्

१. 'सभी नाट्यप्रदर्शन के अन्त में अद्भुतरस रखा जाता है' इस वचन के अनुसार 'अथ' इत्यादि से अब अद्भुतरस का लक्षण करते हैं :—दिव्यजन का अर्थ है गन्धर्व आदि। जिसकी प्राप्ति सम्भव हो वह 'ईप्सित' तथा जिसकी प्राप्ति असम्भव हो वह 'मनोरथ' कहलाता है; इन दोनों को प्राप्त करना अर्थात् इनके समीप आ जाना। जिसने सुन्दर भवन आदि न देखे हों उनके लिये 'देवकुल' (मन्दिर) में जाना 'अद्भुतरस' का विभाव है। एक विशेष प्रकार से निर्मित मण्डप या गृह को 'सभा' कहते हैं। विमान अर्थात् दिव्यरथ। रूप परिवर्तन आदि की कला 'माया' कहलाती है। मन्त्र, द्रव्य या वस्तु के रखने आदि की युक्ति से असम्भव वस्तु को प्रदर्शित करना 'इन्द्रजाल' है।

मूल में आये 'तस्य' पद का अर्थ है अद्भुत रस का। 'हर्ष' शब्द से

१. सम्भाव्यमानमाहेन्द्रजाल—ग०। २. जालसाधनादिभिः—घ०।
३. चरणाङ्गुलि—ग०। ४. व्यभिचारिभावाश्चास्य—ग०।
५. अश्रुस्तम्भ—ग०। ६. सम्भ्रमजडताप्रलयादयः—ग०।

रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान (दान प्रबन्ध) (निरन्तर) हा हा कर चिल्लाना, बाहु, मुँह अंगुलि या वस्त्र के एक कोने को घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए। इसमें अश्रु, स्तम्भ, स्वेद, गद्गदवाणी, रोमांच, आवेग, सम्भ्रम, हर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जड़ता तथा प्रलय आदि संचारी (तथा सात्विक) भाव हैं।

इस विषय में दो अनुवंशीय आर्याएँ हैं :—

यत्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं[1] च कर्म रूपं वा।
तत्सर्वमद्भुतरसे[2] विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ ७६ ॥
[3]स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ७७ ॥

जो भी अतिशयोक्तिपूर्ण[1] वाक्य, शिल्प, कर्म तथा रूप हों वे सभी अद्भुतरस में विभाव समझने चाहिए ॥ ७६ ॥

इसका स्पर्श, ग्रहण, शरीर को आनन्द के अतिरेक में ऊपर उछालने

अद्भुत रस के अनुभावों का ग्रहण होता है। साधु-साधु कहना 'साधुवाद' है तथा उससे प्रसन्न होकर दान (पुरस्कार) आदि देना 'विस्मय' के कार्य या अनुभाव है। विस्मयकारी या अद्भुत वस्तु को देखकर निरन्तर हा हा करना, हाथ, वस्त्र या अंगुली आदि का घुमाना (आदि भी) अद्भुतरस के अनुभाव हैं।

१. जो दूसरों का अतिक्रमण करे वह 'अतिशय' कहलाता हैं, जो अन्य अर्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट हो और उसका प्रतिपादक वाक्य जो कला या उत्तम कार्य रूप हो उसे भी 'अतिशयार्थयुक्त' समझना चाहिए। 'कर्मरूपं' पद में प्रशंसा के अर्थ में 'रूपप्' प्रत्यय किया गया है। यह सभी अद्भुत रस का विभाव होता है। 'स्पर्शग्रह' इत्यादि से आगे अद्भुतरस के विभावरूप में कहे जाने वाले अभिनय का ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि आगे कहा भी है:–

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिर्दिशेत् ॥ (२४–८३)

---

१. शीलञ्च—ग०। २. एभिस्तर्थविशेषै रसोद्भुतो नामचयोद्भवः–ग०, रसोद्भुतो नाम विज्ञेयः—घ०। ३. स्पर्शग्रहोत्कहसनैः—ग०।

उल्लुकसनम्[1]) हा हा शब्द को उच्चारण, साधुवाद, कम्पन, गद्गद वचन तथा स्वेदादि के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ७७ ॥

रसों के तीन प्रकार

शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।
अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ॥ ७८ ॥
धर्मोपघातजश्चैव [1]तथार्थापचयोद्भवः ।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः ॥ ७९ ॥
दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह[2] ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥ ८० ॥

[आँखों को थोड़ा सिकुड़ा कर, भौंहों को ऊपर उठाकर और कपोलों को कन्धे से लगाकर 'स्पर्श' का अभिनय करना चाहिए। (ना० शा० २४–८३)

'उल्लुकसनम्' का अर्थ है शरीर को प्रसन्नता से ऊपर उछालना। यहाँ 'उल्लुकसनैः' आदि में बहुवचन के प्रयोग से विभिन्न पुरुषों की विविध प्रकृति के अन्तर को सूचित किया गया है।

इति अद्भुतरसप्रकरणम् ।

'शृङ्गार' इत्यादि कारिकाओं के द्वारा रसों के विभेद बतलाने के व्याज से प्रधानभूत विभाव के कारणानुरूप सांख्यदर्शन के अभिमत त्रिगुणात्मक भावों को प्रतिपादित किया गया है।

रौद्ररस के भेदों में जिसे 'स्वभाव रौद्र' कहा गया है उसे ही यहाँ 'वाक्य-रौद्र' समझना चाहिए, क्योंकि स्वभाव के अनुसार ही 'वाक्य' रहते हैं।

उत्तम प्रकृति के पुरुषों में 'धर्मोपघातज' शोक हो सकता है और धर्महानि तो उत्तम नहीं होती पर उसका मूल भाव धर्मरक्षण उत्तम होने के कारण 'शोभन हेतु' कहा जा सकता है। 'शोक' शब्द से स्वजन के नाश से उत्पन्न करुण का ग्रहण करना चाहिए। तीनों करुणरस के विभाव होते हैं। धर्म शब्द से यहाँ अग्निहोत्र आदि कार्यकलाप के सम्पादन करने का अर्थ समझना चाहिए।

---

१. तथा त्वप—ग० घ०। २. प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम्—ग० प्राहुस्तज्ज्ञा स्त्रिविधमेव च—घ०।

व्याजाच्चैवापराद्धाच्च विश्रासितकमेव च।

पुनर्भयानकं चैव विद्यात्त्रिविधमेव हि॥ ८१॥

बीभत्सः क्षोभणः[1] शुद्ध उद्वेगी स्यात् तृतीयकः।

विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो[2] रुधिरादिजः॥ ८२॥

शृङ्गाररस वाणी, नेपथ्य तथा क्रिया भेद से तीन प्रकार का होता है। हास्य और रौद्ररस भी अंग, नेपथ्य तथा वाक्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। करुणरस धर्मोपघातज, अपचयोद्भव तथा शोधकृत भेद से तीन प्रकार का होता है। वीररस के दान-वीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर नामक तीन भेद होते हैं ऐसा ब्रह्माजी ने कहा है।

व्याज से अर्थात् बनावटी। इसके द्वारा अनुभावों की मृदुता सूचित की गई है। यहाँ 'अपराध' शब्द से अपराध करने वालों से (चोरों आदि से) होने वाले भय का संकेत है। तीसरे भेद के अन्तर्गत 'वित्रासितकम्' आता है। स्वभाव से ही डरपोक स्त्री बालक आदि को किसी तिनके के हिलने से भय होने लगे तो उसे 'वित्रासितक' कहते हैं। जो विशेषरूप से भीत हैं वे बालक आदि 'वित्रासित' कहलाते हैं और उनमें रहने के कारण 'भय' भी 'वित्रासित' होता है। यहाँ वित्रासित शब्द को संज्ञा के अर्थ में ('संज्ञाया कन्' सूत्र से) 'कन्' प्रत्यय लगाकर ('वित्रासितक' शब्द) निष्पन्न किया गया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारों के अनुसार गुरुजन आदि के प्रति अपराध करने पर उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों में भी वास्तविक भयावेश हो जाता है। यह उचित नहीं है क्योंकि अपने विनाश की आशंका से वास्तविक भय उत्पन्न होता है जो उत्तम प्रकृति के पुरुषों में नहीं होता। अतः स्त्री तथा नीच प्रकृति के लोगों में यथार्थ (सामान्य) भय देखा जाता है (यही सामान्यतः कहा गया है।)

रुधिर तथा आंतों को देखने से जो बीभत्स उत्पन्न होता है वह क्षुब्ध करने के कारण 'क्षोभण' और शुद्ध कहलाता है और जो विष्ठा आदि के देखने से उत्पन्न होता है वह उद्वेगजन तथा हृदय को विचलित करने वाला होने से उद्वेगी है। यह अशुद्ध विभावों से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध कहलाता है।

---

१. क्षोभजः—ग०। २. क्षभजो—ग० घ०।

भयानकरस व्याज (कृत्रिम, प्रदर्शन); अपराध तथा त्रास द्वारा उत्पन्न होकर तीन प्रकार का होता है।

बीभत्सरस क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी भेद से तीन प्रकार का होता है। मूल तथा कीड़े आदि सड़ी वस्तुओं के देखने से 'उद्वेगी', रुधिरादि वस्तु के देखने से 'क्षोभज' ॥ ७८-८२ ॥

अद्भुत-रस के दो भेद—

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनतो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥ ८३ ॥

परन्तु (केवल) अद्भुतरस के दो भेद होते हैं—दिव्य[1] तथा आनन्दज। अलौकिक या दिव्य वस्तुओं तथा व्यक्तियों के दर्शन से 'दिव्य' तथा हर्षादि से उत्पन्न 'आनन्दज' होता है ॥ ८३ ॥

इस विषय में (अभिनवगुप्त के उपाध्याय) भट्टतौत का मत है कि इन दोनों प्रकार के बीभत्सों को क्षोभज अर्थात् अशुद्ध समझना चाहिए। संसार को संचालित करने वाले राग द्वेष आदि का विरोधी होकर जो मोक्ष का साधक हो उसे ही वस्तुतः 'शुद्ध बीभत्स' माना जाना चाहिए। बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा है जो योगांग होने से मोक्ष में उपयोगी है। जैसा कि पतञ्जलि ने कहा भी है कि—"शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा" (यो० सू० २।४०) (शौच के सिद्ध होने पर अपने शरीर से भी घृणा हो जाती है) अतः शौच से बीभत्स का स्थायी भावजुगुप्सा भी मोक्ष साधन में उपयोगी है और 'विपक्षबाधने प्रतिपक्षबाधनम्' (यो० सू० २।३३) वित्तर्कों के द्वारा बाधा उपस्थित होने पर प्रतिपक्ष की भावना का समाहारआवश्यक है) अतः उक्त दो भेदों के अतिरिक्त बीभत्सरस की यह तीसरी कोटि भी स्वीकार्य होने के कारण बीभत्सरस के तीन प्रकार हो जाते हैं। कारिका में दिये गये 'द्वितीयकः' पद से मोक्षोपयोगी बीभत्स की दुर्लभता होने से उसकी न्यूनता को संकेतित किया गया है।

१. दिव्य शब्द से जिसमें सभा, विमान आदि हो ऐसे विभावों का ग्रहण होता है। जिसमें मनोरथ आदि आनन्द प्रदान करते हों उसे 'आनन्दज' समझना चाहिए। प्रथम में दिव्यता विस्मयकारी और दूसरे में हर्ष आनन्द-प्रदाता होता है।

शान्तरस

अथ[1] शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु

यहाँ शृंगार इत्यादि में आये हुए अन्य विभावों तथा अनुभावों के अभाव की शंका के निराकरण के लिए 'च' कार है [अर्थात् इनके अतिरिक्त अन्य विभाव और अनुभाव भी हो सकते हैं। और उनमें से इतने ही यहाँ सङ्गत हो सकते हैं इसे दिखलाने के लिये चकार के बाद 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'तथा' शब्द से अनुक्त विभावादिकों का संग्रह करने का निर्देश भी किया गया है।

अथ शान्तरसविचारः

अब नवरसवादियों के मत के अनुसार 'शान्तरस' का प्रतिपादक स्वरूप बतलाया जा रहा है। इस विषय में कुछ के अनुसार—शान्त शमस्थायी भाव वाला है और इसकी उत्पत्ति तप और योगिसम्पर्क आदि विभावों से होती है और काम, क्रोध आदि अभावरूप अनुभावों से इसका अभिनय किया जाता है तथा धृति, मति आदि इसमें व्यभिचारिभाव होते हैं।

पर (इस मत के) विपक्षी जन इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में शम और शान्त शब्द समानार्थक (पर्याय) है जिनमें एक को स्थायी और दूसरे को रस मानना अनुचित होगा। इसके अतिरिक्त भावों की उनचास संख्या नियत होने से यदि यहाँ 'शम' को माना जाय तो यह संख्या का परित्याग होगा अतः संख्यावृद्धि के आपादक होने से शान्त को रस कैसे माना जाय। और ऋतुमाल्य आदि विभाव अपने पश्चात् उत्पन्न होने वाले शृङ्गारादि रस में कारण रूप से प्रतीत होते हैं पर यहाँ तप और स्वाध्याय आदि विभाव अपने उत्तरवर्ती शान्त या शम में कारणरूप से प्रतीति नहीं होते।

अब यदि यह कहें कि (तप, अध्ययन आदि) तत्वज्ञान के बाद में आने वाले हेतु हैं तो पहले उत्पन्न होने वाले तत्व ज्ञान के प्रति कारण होने से शम के विषय में तप, अध्ययन आदि को विभावता नहीं रहेगी। और कामादि के अभाव को भी शान्तरस का अनुभाव नहीं माना जा सकता है क्योंकि कामादि का अभाव शान्त के विरोधी वीर आदि अन्य रसों में भी होता है अतः यह

---

१. अथ शमो—ख०।

तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमा-

---

अभाव की स्थिति शान्त की बोधक नहीं हो सकती, ऐसी दशा में वीर आदि रसों से शान्त रस का पार्थक्य स्पष्ट नहीं होता ।

(शान्तरस का) अभिनय में भी समावेश नहीं हो सकता क्योंकि चेष्टा के अभाव का अभिनय करना सम्भव नहीं । सोने तथा मूच्छित होने पर निश्चेष्टता मानी गयी है पर इसका अभिनय श्वास प्रश्वास लेने, शयन करने गिरने आदि से किया जाता हैं [अतः 'शम' की व्यापार-शून्यता की दशा का अभिनय कैसे होगा] विषयों के उपभोग से प्राप्त तृप्ति रूप धृति शान्तरस में कैसे सम्भव है ? (और फिर उसमें धृति व्यभिचारी भाव नहीं बन सकता) शम प्रधान पुरुष के निश्चेष्ट बैठ जाने पर उसके द्वारा तत्वज्ञान के उपायों का उपयोग या अनुष्ठान कैसे होगा ? (और तत्वज्ञान के न होने से मोक्ष रूप फलप्राप्ति भी उसे नहीं होगी) साधक पुरुष तत्वज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी संसार में दूसरों के दुःख से दुःखी देखे जाते हैं [अतः शान्तरस सुख-दुःख से रहित भी नहीं है] इसलिए शान्तरस को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

[इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित करने के बाद उसके समाधान के लिये सिद्धान्त पक्ष का आरम्भ करते हैं] संसार में जैसे धर्मादि तीन पुरुषार्थ कहे गये हैं उसी प्रकार शास्त्र, स्मृति तथा इतिहास आदि में मोक्ष भी चतुर्थ पुरुषार्थ माना गया है । और जैसे काम आदि के उपयुक्त रति आदि शब्दों से अभिहित चित्तवृत्तियाँ कवि तथा अभिनेताओं के कार्य तथा अभिनय के द्वारा उस प्रकार की हार्दिक भावनाओं वाले सामाजिक के लिए शृंगार आदि के रूप में आस्वाद्य बनाई जाकर रसत्व को प्राप्त करवाई जाती है उसी प्रकार मोक्ष पुरुषार्थ के अनुरूप या उपयुक्त शम (रूप) चित्तवृत्ति रसत्व को क्यों नहीं प्राप्त करवायी जा सकेंगी यह कहिये ? और जो जहाँ शम रूप चित्तवृति बतलाई गयी है वही शान्तरस का स्थायी भाव है ।

यहाँ विचारणीय यही है कि इसका स्थायीभाव कौन है ? कुछ लोगों का मत है कि तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्तरस का स्थायीभाव है । निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद से शान्तरस का स्थायी निर्वेद भिन्न है, क्योंकि यहाँ तत्वज्ञान कारण रूप में होने से भिन्न स्थिति उत्पन्न कर रहा है । इसीलिये भरतमुनि ने इसे स्थायी तथा संचारिभावों के मध्यवर्ती रखा है । मुनि

ने स्थायी भावों में निर्वेद को न रखकर उसका व्यभिचारिभावों में ही सर्वप्रथम उल्लेख किया है। यदि 'निर्वेद' मोक्ष का साधन न होकर केवल दरिद्रता आदि से सम्बद्ध होता तो मंगल की कामना से भरत मुनि इसका सर्व प्रथम उल्लेख नहीं करते। और जब भरतमुनि ने 'निर्वेद' को व्यभिचारिभाव माना है तो उसे स्थायीभाव कैसे माना जाय? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भरतमुनि ने बीभत्स रस के स्थायी भाव जुगुप्सा को शृंगार में व्यभिचारिभाव रूप में निषेध करते हुए सभी स्थायीभावों का अपने रस में स्थायीभावत्व तथा अपने से भिन्न रसों में व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने की अनुमति दी है। यदि कोई भाव स्थायी है तो वही व्यभिचारिभाव हो सकता है। अतः तत्वज्ञानजन्य 'निर्वेद' भी स्थायी तथा व्यभिचारिभाव होकर शान्त रस का स्थायीभाव बन सकता है। और तत्वज्ञानजन्य निर्वेद केवल स्थायीभाव ही नहीं है वह रत्यादि अन्य स्थायी भावों का उपमर्दक भी है। और जो व्यभिचारिभावों के वैचित्र्य को सहन करने वाले रत्यादि से भी अधिक स्थायी स्वभाव वाला है, वही अन्य रसों के स्थायीभावों का विमर्दक होता है [अतः निर्वेद ही शान्तरस का स्थायीभाव है]।

अन्य आचार्य इस मत पर यह आक्षेप करते हैं कि तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शान्तरस का स्थायीभाव है तो तत्वज्ञान को उसका कारण स्वीकारा जाय। पर वैराग्य के मूलभूत तत्वज्ञान को शान्तरस का विभावत्व (कारणत्व) कैसे माना जाय? यदि कहो कि परम्परया उनका उपाय होने से विभावत्व है तो कारण के कारण में विभावत्व का व्यवहार होने से अतिप्रसङ्ग या अनवस्था दोष होगा। [अतः तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को स्थायी नहीं माना जा सकता]।

इसके अतिरिक्त सब विषयों में अनुपादेय बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य स्वरूप है। वह तत्वज्ञान के लिए विपरीत रीति से उपयोगी है क्योंकि विरक्त मनुष्य ऐसा प्रयत्न करता है जिससे उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो और तत्वज्ञान से मोक्ष उत्पन्न होता है। इस प्रकार पहिले वैराग्य और फिर तत्वज्ञान होता है यह नहीं कि तत्वज्ञान से निर्वेद और निर्वेद से मोक्ष होता हो। अत तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्तरस का स्थायीभाव कैसे माना जा सकत है।

प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-धृति-सर्वाश्रम-शौच-स्तम्भरोमाञ्चादयः। अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

अतएव (आत्मज्ञानरहित) केवल 'वैराग्य से प्रकृतिलय होता है' ऐसा श्रद्धेय ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका (का० सं० ४५) में भी कहा है।

(प्रश्न) यह देखा जाता है कि तत्वज्ञानी पुरुष को दृढ़तर वैराग्य होता है। पतञ्जलिमुनि ने भी कहा है कि 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' (यो० सू० १।१६) [आत्मज्ञान होने पर प्राकृतिक पदार्थों के प्रति जो वितृष्णभाव हो जाता है वही परवैराग्य है] अतः तत्वज्ञानजन्य निर्वेद शान्तरस का स्थायीभाव माना जा सकता है।

(उत्तर) यह ठीक है पर इस प्रकार के वैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा माना गया है और यही बात स्वयं पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र (१।१६) के द्वारा स्पष्ट भी की है। इस रूप में तत्वज्ञान अपनी ही शृंखला द्वारा परिपोषित होकर परवैराग्य हो जाता है। अतः निर्वेद स्थायीभाव नहीं है किन्तु तत्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायीभाव है। और व्यभिचारिभावों की व्याख्या के अवसर पर (अ० ७) तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद कहा गया है, पर वहाँ तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को इसलिये कारण कहा गया है कि (जिन) सांसारिक पुरुषों द्वारा भ्रान्तिवश धोखा खाया जाता है उनके विषयभोगादि में उपादेयताबुद्धिरूप भ्रम को दूर करने के लिये ही निर्वेद के कारण को तत्वज्ञान कहा गया है। जैसा निम्न पद्य में :—

वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता॥

[अर्थ—गुणों को न जानने वाले एवं कृपण स्वरूप आपको अपनी मूढ़ता के कारण प्रणाम कर मैंने अयन के भार से झुकी हुई गौ समझकर अब तक यों ही बैल दुहने का व्यर्थ प्रयास किया, लावण्यहीन नपुंसक को युवती मानकर व्यर्थ ही आलिङ्गन किया और किरणों को प्रतिफलित करने वाले काँच के टुकड़े में वैदूर्यमणि की व्यर्थ ही आशा रखी।]

यहाँ यह गौणरूप से तत्वज्ञान को निर्वेद का कारण मान कर जो कहा है वह मोक्ष के उपपादक निर्वेद के प्रति नहीं है, परन्तु खेदरूप निर्वेद के कारण

(गद्य भाग) अब मैं शान्त रस बतलाता हूँ, जिसका 'शम' स्थायीभाव है तथा जो मोक्ष का आपादक है। यह तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्त-शुद्धि

(विभाव) रूप में कहा गया है। यह बात व्यभिचारिभावों की व्याख्या के अवसर पर विस्तार से पुनः (ना० शा० अध्या० ७ पर) कहेंगे।

(पूर्वपक्षी–प्रश्न)—मिथ्याज्ञानमूलक विषयों के साथ रागादि सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है यह अक्षपाद ने दुःखजन्मप्रवृत्ति' (न्या० सू० १।१२) इत्यादि सूत्र से कहकर मिथ्याज्ञान के नाशक तत्त्वज्ञान को दोषाभाव रूप वैराग्य का कारण कहा है।

(सिद्धान्ती-प्रतिप्रश्न) तो इससे क्या हो गया ?

(पूर्वपक्षी) यह कि वैराग्य ही निर्वेद है।

(सिद्धान्ती) यह कैसी बात है ? दोनों कैसे समान हो सकते हैं, क्योंकि शोकप्रवाह के प्रसार रूप चित्तवृत्ति का नाम 'निर्वेद' है और रागादि भावों का विनाशक रूप 'वैराग्य' होता है। और वैराग्य को निर्वेद का रूप मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण से उत्पन्न उस दोषाभाव रूप वैराग्य के मध्यवर्ती मिथ्याज्ञान के नाश के बाद होने वाले वैराग्य को मोक्षरूप फल की सिद्धि में साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता। तथा 'तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति होती है' ऐसा कहने से 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' है यह सिद्ध हो जाता है फिर शम को ही क्यों न स्थायी भाव माना जाय। यदि यह कहा जाय कि शम और शान्त दोनों पर्याय हैं तो हास और हास्य शब्द की पर्यायता से ही उसका परिहार हो जाता है और सिद्ध साधनता दोष का निराकरण स्थायीभाव के लौकिक तथा रस के अलौकिक होने से हो जाता है। तथा स्थायीभाव तथा रस में साधारण तथा असाधारण का भेद होने से शम और शान्त में वैलक्षण्य [भेद] भी है। अतएव शान्तरस का निर्वेद स्थायीभाव नहीं है किन्तु शम ही स्थायीभाव माना जाना चाहिये।

कुछ अन्य आचार्यों का यह मत है कि जिन रत्यादि आठ चित्तवृत्तियों का पहले उल्लेख किया गया वे ही पूर्व अभिहित शृङ्गार आदि में उपयोगी या प्रयुक्त विभावों से भिन्न, श्रुत (आध्यात्मिक चर्चा) आदि अलौकिक विभावों के आश्रय से भिन्न रूप में व्यक्त होतीं हैं। अतएव उनमें से ही कोई एक यहाँ स्थायीभाव हो सकता है। तब अखण्डानन्द स्वरूप आत्मविषयक रति ही जो

आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका यम, नियम, अध्यात्म-ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, सभी प्राणियों पर दया, यति-वेशग्रहण

कि मोक्ष का साधन कही गयी है—यहाँ (शान्तरस में) स्थायीभाव रूप है। जैसा कि (भगवद्गीता में) कहा गया है :—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गी० ३।१७)

[अर्थः—जो आत्मा में रति रखने वाला, आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करने वाला तथा अपने में ही सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं होता।] यहाँ मोक्षविषयक शान्तरस का रति स्थायीभाव कहा गया है।

इसी प्रकार समस्त वस्तुओं के विषयों में विकार देखकर (विकृतदर्शन-जन्य हास्यरस का 'हास' स्थायी), समस्त संसार को शोचनीय रूप में देखकर [करुण का 'शोक' स्थायी] सांसारिक घटनाओं को [आत्मज्ञान में] अपकारी देखने वाले को [रौद्र का 'क्रोध' स्थायी], अत्यन्त ज्ञानप्रधान वीर्य [उत्साह] का आश्रय लेने वाले को [वीर का 'उत्साह' स्थायी], सारी विषय वस्तुओं से भय का अनुभव करने वाले को [भयानक का 'भय' स्थायी], सभी के लिए स्पृहणीय प्रमदादि से घृणा करने वाले को [बीभत्स का 'जुगुप्सा' स्थायी] और अपने आत्मस्वरूप के अपूर्व साक्षात्कार से विस्मय का अनुभव करने वाले [अद्भुत का 'विस्मय' स्थायी] साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः यहाँ रति से लेकर विस्मय पर्यन्त विभिन्न स्थायीभावों का शान्त के स्थायीभाव के रूप में निरूपण किया गया है।

और यह मत भरत के अनुकूल भी (हो सकता) है क्योंकि (जब) भरत विशिष्ट विभावों को गिनाने के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग कर अन्य विभावों का समाहार करते हैं तो उसी से 'उन सामान्य हेतुओं से भिन्न (श्रुतादि रूप) अलौकिक हेतुओं से उत्पन्न रत्यादि से भी मोक्ष की सिद्धि मानी है। [यह अन्य आचार्यों का व्याख्यान है]।

इस प्रकार सभी रसों के स्थायीभाव शान्तरस के स्थायीभाव हो सकते हैं यह स्वीकार करने वालों में परस्पर विचार करने पर किसी एक की भी स्थायी भाव रूप में स्थित निश्चित नहीं हो सकेगी। उन विभावों के भेद से

आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिये । इसमें निर्वेद, स्मृति, धृति (सभी आश्रमों में) पवित्रता, स्तम्भ, रोमांच आदि संचारी भाव होते हैं ।

उस-उस रत्यादि का शान्तरस में स्थायिभावकत्व होता है यह कहना भी अनुचित है क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न स्थायीभावों की स्थिति मानने पर एक शान्तरस के ही अनन्त भेद होने लगेंगे । और यदि यह कहा जाय कि मोक्ष रूप फल के एक होने से शान्तरस भी अभिन्न होगा तो ऐसी दशा में वीर तथा रौद्ररस का भी किसी एक धर्मादि पुरुषार्थ से अभिन्न फल होने से उनका भी अभेद होगा । अतः रत्यादि आठों या उनमें से कोई एक शान्तरस का स्थायीभाव नहीं हो सकता ।

एक दूसरे मत के अनुसार पाकरस के आस्वाद के समान शान्तरस में सभी स्थायीभाव मिलकर स्थायीभाव हो जाते हैं । किन्तु रत्यादि विविध चित्तवृत्तियों के एक साथ सम्भव न होने तथा हास, क्रोध आदि चित्तवृत्तियों में एक दूसरे का विरोध होने से यह मत भी स्वीकार्य नहीं है ।

(प्रश्न) तो फिर शान्तरस का स्थायीभाव कौन है ? (उत्तर) इसके उत्तर में कहना यह है कि इस विषय में सबसे मुख्य बात है कि तत्वज्ञान ही मोक्ष का साधन होता है अतः उसे ही स्थायीभाव मानना उचित है । ऐन्द्रिकज्ञान से भिन्न आत्मज्ञान ही 'तत्वज्ञान' है । इस रूप में आत्मपदार्थ अनात्म से भिन्न होता है अतः ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और विषयोपभोग की परिकल्पना से हीन आत्मा ही शान्तरस में स्थायीभाव स्वरूप है ।

इस आत्मतत्व के स्थायीभाव होने पर रत्यादि को अस्थायीभाव नहीं समझना चाहिए क्योंकि रत्यादि अपने कारणों के उपस्थित या अनुपस्थित होने के कारण उत्पन्न और विलीन होकर भी आत्मतत्वरूप स्थायी भिति के आश्रित होकर अधिक काल तक स्थिर रहने के कारण स्थायी कहलाते हैं [अतः इनका स्थायित्व सापेक्ष है], परन्तु तत्वज्ञान रत्यादि अन्य समस्त भावों का आश्रय रूप है, अन्य स्थायी स्वभाव वाला है, जो रत्यादि वृत्तियों को व्यभिचारिभावत्व प्राप्त करवाता है और जो स्वभावतः स्थायीभाव रूप में स्वयं सिद्ध हैं । यही कारण है कि भरतमुनि ने इसकी अलग से स्थायी भावों में गणना नहीं की; जैसे किसी मस्तक और धड़ के मध्यवर्ती गोत्व या प्राणित्व की अलग गणना नहीं की जाती । अतः उनचास भावों का ही कथन उचित है ।

इस विषय में आर्याएँ तथा श्लोक हैं :—

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

यदि यह प्रश्न किया जाय कि ऐसा होने पर शान्तरस की पृथक् गणना क्यों की गयी है तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इसका आस्वाद इन सभी से भिन्न (प्रकार का) है। अन्य भावों का आस्वाद विभिन्न प्रकार का होता है पर रति आदि के समान आत्मस्वरूप से अमिश्रित होकर लौकिक प्रतीति का विषय नहीं होता। इस समाधि दशा में आत्मस्वरूप निर्विकल्पक रूप से साक्षात्कारात्मक होने पर भी व्युत्थानकाल या समाधि-भंग होने पर अन्य चित्तवृत्तियों से कलुषित हो जाता है। यही कारण है कि शान्तरस को भिन्न रस माना गया है।

अथवा लोक में आत्मा की अनुभूति सम्भव होने पर भी सम्भावना के आधार पर उनकी स्थायीभावों में गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि सम्भावित स्थानीभावों का रसों की निष्पत्ति में उपयोग नहीं होता। क्षणिकता के कारण इनमें व्यभिचारित्व और अलक्षणीयत्व का ही बोध होगा; अतएव 'उनचास भावों के द्वारा' इत्यादि जो कहा गया है वह (उचित या) उपपन्न हो जाता है।

और इस आत्मस्वरूप को भरत मुनि ने व्यभिचारिभाव के रूप में सम्भव न होने, विभिन्न अनुभूतियों के उत्पादक न होने तथा अनौचित्य पूर्ण होने से 'शम' शब्द से अभिहित नहीं किया है। पर यदि उसी विशुद्ध 'आत्मस्वरूप' को 'शम' या 'निर्वेद' शब्द से कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं है। केवल इतना ही है कि 'शम' एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है। यहाँ निर्वेद दीनता आदि से उद्भूत 'निर्वेद' नहीं है अपि तु उससे भिन्न प्रकार का है। यदि यह कहा जाय कि दारिद्र्यादि से उत्पन्न तथा तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को एक ही नाम से अभिहित करने पर विजातीय क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि कारणभेद होने पर भी समानजातीय पदार्थ को समान नाम से अभिहित किया जाता है। यही बात रति आदि अन्य भावों में भी पायी जाती है। अतएव आत्मस्वरूप को ही शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में शमता या तत्व-

मोक्षप्राप्ति में उपयोगी आध्यात्मिक ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, तत्त्व ज्ञान में हेतुभूत अर्थ (निर्वेद) से युक्त रहने वाला तथा मोक्षज्ञान के लिए कहे गये वचनों के द्वारा शान्तरस (उत्पन्न) होता है ॥ ८४ ॥

ज्ञान कहा जायगा जिसके विभिन्न विकारों से रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। उन रत्यादि भावों के विद्यमान रहने पर समाधि द्वारा उनके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूप का अनुभव कर समाधि के न रहने पर भी चित्त की प्रशान्तवाहिता (शान्ति का विकास) बनी रहती है। जैसा कि योगसूत्र में कहा है 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (यो० सू० ३।१०) [संस्कारों के कारण उस चित्त की समाधि के उपरान्त भी प्रशान्तस्वरूपा अवस्था बनी रहती है।] अतः आत्मस्वरूप या तत्वज्ञान ही शान्तरस का स्थायीभाव है।

तथा यह लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्तियों का समस्त समुदाय तत्वज्ञानरूपी स्थायीभाव का व्यभिचारिभाव रूप हो जाता है। उस तत्वज्ञान के अनुभव ही यम, नियम आदि के द्वारा समर्थित या उपकृत होकर शान्तरस के अनुभाव होते हैं। तथा आङ्गिकअभिनय के प्रतिपादक अध्यायों [ना० शा० ६–११] में जो स्वभावाभिनय बतलाये जायेंगे वे भी इसी शान्तरस में सम्बद्ध हो जाते हैं। शान्तरस 'स्वभाव' कहलाता है तथा शेष रस विकार रूप हैं। इसके ईश्वरानुग्रह आदि विभाव हैं तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि का भी शान्तरस में आस्वादन हो जाता है।

केवल यही बात (विशिष्ट) है कि विप्रलम्भ शृङ्गार में या सम्भोग शृंगार में 'औत्सुक्य' व्यभिचारिभाव होने पर भी प्रधान रूप में सम्भव होता है। इसी प्रकार रौद्र में उग्रता या करुण, वीर, भयानक और अद्भुत रसों में क्रमशः निर्वेद, धृति, त्रास और हर्ष आदि व्यभिचारिभाव होने पर भी प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। केवल जुगुप्सा में राग के सर्वथा विपरीत होने के कारण व्यभिचारिभाव की प्रधान रूप से प्रतीति नहीं होती। जैसे कि महाव्रत में कपाल आदि का धारण, मद्य या अङ्गना प्रभृति का न्यूनाधिक रूप में सेवन भी धर्म में जुगुप्सा का ही कारण बनता है। इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों में विहित विधान से नियोग द्वारा घृताभ्यक्त देवर से विधवा में पुत्रोत्पादन कार्य भी जुगुप्साजनक है।

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ ८५ ॥

इसके अतिरिक्त अपने में कृतकृत्य पुरुष का उद्योग परोपकार करने का रहता है इसी कारण परोपकारविषयक अभिलाष तथा प्रयत्न रूप उत्साह—जिसका दूसरा नाम दया या करुणा है—शान्तरस का विशेष रूप से अन्तरङ्ग होता है। इसीलिए कुछ विद्वान् उसे दयावीर और कोई धर्मवीर नाम से व्यवहृत करते हैं।

(प्रश्न) अहंकार से उत्साह प्रेरित किया जाता है और शान्तरस में अहंकार का शैथिल्य रहता है अतः विरुद्ध प्रकृतिवाला उत्साह शान्तरस का अन्तरङ्ग कैसे होगा ?

(उत्तर) विरुद्ध भावों का व्यभिचारिभाव के रूप में वर्णन अनुचित नहीं माना जाता (अर्थात् सर्वदा अनुकूल व्यभिचारिभावों का ही प्रयोग नहीं होता) है और शृंगाररस में निर्वेदादि विरुद्धभावों का वर्णन होने पर अनुचित नहीं है। जैसे नागानन्द नाटक के निम्न वर्णन में :।

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥ (नागा० ४।२)

[अर्थ—जहाँ हरी घास के मैदान ही शय्या हैं, पवित्र शिलातल ही आसन, पेड़ों के नीचे ही घर हैं, पीने के लिए झरनों का शीतल जल और कन्द का भोजन है, जहाँ मित्र रूप में हरिण हैं। इस प्रकार बिना याचना के ही जहाँ सब वैभव प्राप्य है उस वन में केवल यही दोष है कि धन की प्राप्ति दुर्लभ होने से परोपकार की सामर्थ्य नहीं रहती, अतः वहाँ रहना व्यर्थ हो जाता है।] इत्यादि—

उपर्युक्त उदाहरण में परोपकार के लिए उत्साह का अतिरेक दिखलाया गया है। उत्साह शान्तरस का विरोधी नहीं होता क्योंकि कोई भी अवस्था ऐसी नहीं होती जो उत्साहशून्य रहती हो और इच्छा तथा प्रयत्न से रहित मनुष्य पाषाणवत् जड़ है। (दूसरे) परात्पर ब्रह्म और अपर आत्मा जीव का तात्विक ज्ञान हो जाने पर फिर कोई अन्य कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है

ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के विरोध तथा आत्मिक स्थिति से युक्त सभी प्राणियों के सुख तथा हित का आपादक शान्त रस जानो ॥ ८५ ॥

इसलिये प्रशान्तमनाः साधक के द्वारा दूसरों के उपकारार्थ अपने सर्वस्व तथा शरीर का दान कर देना शान्तरस का विरोधी (कार्य) नहीं है। जो 'आत्मानं गोपायेत्' (गौत० ध० सू० ६।३५) [आत्मा की सदा रक्षा करना चाहिए] इत्यादि से मनुष्यों को आत्मसंरक्षण का आदेश दिया गया है वह सांसारिक पुरुषों के लिए उपदेश है। संन्यासियों का उस रक्षण के उपदेश से कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान् निघ्नता किं न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ॥"

[मानव जीवन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करने के लिये होता है। उनको नाश करने वाले ने क्या नहीं नष्ट कर दिया और उनकी रक्षा करने वाले ने क्या नहीं बचाया !]

यहाँ देह-रक्षा का कारण चतुवर्ग की साधना बतलाया गया है। संन्यासी के लिये तो किसी प्रकार से शरीर का त्याग करने का विधान है फिर उसे परोपकार के लिए त्याग किया जाय तो इससे और क्या उत्तम बात होगी ? [अतएव ऐसे प्रसङ्ग में उत्साह शान्तरस के अन्तर्गत माना जायगा।]

और यदि यह प्रश्न किया जाय कि जीमूतवाहन तो यति नहीं है फिर शान्तरस की अवस्थिति कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रसंग में तत्वज्ञानित्व तो वहाँ विद्यमान है ही। अथवा देह को ही आत्मा मान लेने वाले मनुष्य के लिए तो देह सर्वस्व होता है और उस शरीर को धर्म आदि के सदुद्देश्य से त्यागना ऐसे पुरुषों के लिये कैसे सम्भव होगा। (और जीमूतवाहन ने परार्थ के लिए अपने शरीर का परित्याग किया तो वह तत्त्वज्ञानी अवश्य माना जाना चाहिए)।

यदि यह माना जाय कि शरीर त्याग के लिये तत्वज्ञानी होना आवश्यक नहीं है क्योंकि अतत्वज्ञानी पुरुष भी युद्ध में परोपकारार्थ अपने शारीर का त्याग कर देते हैं तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि युद्ध में शरीर त्याग की प्रवृत्ति तो होती है परन्तु वह तत्वज्ञान से प्रेरित होकर नहीं होती अपितु शत्रु को पराजित करने की भावना से होती है। इसी तरह भृगुपतन आदि में भी दूसरे उत्तम शरीर की प्राप्ति की इच्छा प्रधानरूप से विद्यमान

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ ८६ ॥

रहती है । अतएव परोपकारार्थ निस्वार्थभाव से कार्य करने से लेकर शरीर पर्यन्त जितनी चेष्टाएं हैं वे विना तत्वज्ञान के संभव नहीं हो सकतीं हैं (इसी कारण जीमूतवाहन आदि भी तत्वज्ञानी ही हैं) । और तत्वज्ञान से ही पुरुष को सभी आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है यह श्रुति, स्मृति में बतलाया गया है । जैसा कि कहा भी है :—

"देवार्चनरतस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥"

[अर्थ —देवताओं की अर्चना एवं भक्ति में लीन रहने वाला, तत्वज्ञानी अतिथि की सेवा करते हुए, श्राद्धादि कर दान देते हुए गृहस्थी होकर भी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।]

इनमें अन्तर केवल यह है कि परोपकार रूप (सकाम) कर्म एवं परार्थ-साधन से उपार्जित धर्म के द्वारा बोधिसत्व जैसे तत्वज्ञानी को भी उसके अनुरूप पुनः शरीर आदि की प्राप्ति हो जाती है यह देखा गया है [जब कि निष्काम कर्म से उपार्जित धर्म से संन्यासी जन्ममरण के बन्धन से छूट जाता है ।]

अन्य रसों के प्रसङ्ग में भी अपने कर्तव्य का पालन करने के औचित्य से सुख की प्राप्ति होती है । जैसे श्रीराम का अपने पिता की आज्ञा-पालन करना वीररस का अङ्गभूत होकर सुख की प्राप्ति का कारण बन जाता है । इसी प्रकार शृङ्गार आदि में भी यही क्रम समझना चाहिए । इसी कारण नागानन्द में जीमूतवाहन में परोपकार प्रधान त्रिवर्ग की प्राप्ति रूप फल के अभीष्ट होने से शान्तरस का स्थायित्व होने पर भी उसकी प्रमुखता नहीं है । इसी आशय से नाटक के लक्षण में 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' (ना० शा० २०।११) कहा जाएगा । इससे स्पष्ट है कि ऋद्धि तथा विलासयुक्त, काम तथा अर्थ से सम्पन्न सहृदयों की हृदय-भावना के अनुरूप सुन्दर प्रयोजन (उद्देश्य) वाले चरित्रों को (ही) नाटक में प्रस्तुत करना चाहिए । और इसी अभिप्राय से भरतमुनि ने इन ऋद्धि आदि अंगों का शान्तरस के अन्तर्गत विनियोग नहीं

जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न द्वेष, न मत्सर हो। जो सभ प्राणियों में समता बुद्धि रखे उसे शान्त-रस समझना चाहिये ॥ ८६ ॥

किया। पर शान्तरस में ऋद्धि आदि अंगों के विनियोग नहीं किये जाने के कारण उनका शान्तरस में अभाव प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

अन्य आचार्य नागानन्द के प्रसंग को लेकर यह कहते हैं कि—'जीमूतवाहन ने 'कस्ते पुत्र त्राता भविष्यति' [हे पुत्र, (शंखचूड) जब तुम्हारे राजा ने ही रक्षा नहीं की तो अब तुम्हें कौन बचाएगा] ऐसा कहने वाली वृद्धा माता की ही रक्षा की है। परन्तु इस रक्षा करने में उसने कहीं शक्तिप्रदर्शन नहीं किया और न (शत्रुबधादि रूप) परहिंसा दिखलाई देती है। शक्ति का प्रयोग तथा परहिंसा वीररस में होती है, तब नागानन्द के नायक में इनके अभाव में दया या धर्मवीर नाम देना अनुचित है।' इसका उत्तर यह है कि बोधिसत्वों के मन में शत्रुवध के कार्य द्वारा पुनः अभ्युदय प्राप्त करने की भावना नहीं होने से शक्ति का प्रयोग अभीष्ट नहीं होता। अतः सिद्ध है कि यहाँ नागानन्द में दयारूप उत्साह प्रधान है तथा (इसके साथ) अन्य व्यभिचारिभाव भी यथोचितरूप से रह सकते हैं। जैसा कि योगदर्शन में 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' (यो० सू० ४।२७) [उस समाधि के रन्ध्रों में (समाधि खुलने पर बीच-बीच में) संस्कारों के कारण अन्य प्रत्यय (ज्ञान) भी कहते हैं] अतएव शान्तरस में व्यापारशून्य होने से अनुभावों का अभाव रहेगा यह कथन असंगत है। पर जब मोक्ष की चरमभूमि में पहुँच जाने पर उत्साहादि भावों का अभाव हो जाता है तब यह शान्तरस अनभिनेय हो जाता है। और चरमपरिणति या अन्तिम भूमि पर रति, शोक आदि भी अनभिनेय हो जाते हैं। हृदय की तन्मयता स्थायीभावों के संस्कार के कारण जैसे शृंगारादि रसों में होती है उसी प्रकार तत्वज्ञान के मूल (भूत) संस्कारों से संस्कृत अन्तःकरण वालों को शान्तरस में भी होती है। जैसा कि आगे नाट्यशास्त्र में कहेंगे—'मोक्षेष्वपि विरागिणः' (ना० शा० २७।५८) [मोक्ष के विषय में भी वैराग्यसम्पन्न रहने वाले] इत्यादि।

(प्रश्न) शान्तरस प्रधान नाटकों में वीररस का आस्वादन कैसे संगत होगा?

(उत्तर) जहाँ शान्तरस का प्रयोग किया जाता है वहाँ पुरुषार्थोपयोगी शृङ्गारादि रसों की स्थिति अवश्य रहती है और शान्त के अन्तर्गत उनका

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥ ८७ ॥

आस्वादन होता है । जिन प्रहसन आदि में हास्यादि रसों की प्रमुखता होती है वहाँ भी बाद में अन्यरस अन्तरनिष्ठ होकर आस्वाद्य होते हैं [और आस्वादन (रस) की भिन्नता के कारण रूपक भेद तथा रूपकों में रसों की अभिन्न स्थिति बतलायी जाती है] ।

अतः सिद्ध हो गया कि 'शान्तरस' (का अस्तित्व) है । इसलिये नाट्यशास्त्र की प्राचीन पुस्तकों में 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' के बाद 'शान्तो-नाम शमस्थायिभावात्मकः' इत्यादि से शान्तरस का लक्षण दिया गया है ।

सभी रसों के चरम आस्वाद में तद्विषयों की विमुखता के होने के कारण शान्तरस प्रमुखता प्राप्त कर प्रायः निर्व्यापार स्वरूप ही होता है । अन्य रसों की दशा में स्थायीभावात्मक वासनाएं अवस्थित रहती हैं पर शान्तरस में अपनी चरमावस्था में ये वासनाएँ शान्त हो जाती हैं । इसलिये (करिका में) शान्तरस सभी रसों की प्रकृति होकर सर्वप्रमुख या प्रथम रूप में कहा गया ।

जिसकी सामान्यतः सर्वत्र स्थिति रहती हो उसकी अलग गणना नहीं की जाती है अतः शान्तरस का अलग स्थायीभाव नहीं कहने या गणना न करने से भी कोई दोष नहीं है । परन्तु विवेचकजन सामान्य का भी अलग निर्धारण करते हैं अतः उनकी दृष्टि से सामाजिकगत आस्वादनरूप प्रतीति के विषयरूप इस शान्तरस का स्थायीभाव पृथक् होगा ही ।

इतिहास, पुराण, कोश आदि में नवरसों का वर्णन पाया जाता है । इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन के श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र में भी कहा है कि —

"अष्टानामिह देवानां शृंगारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥" इति ।

[अर्थ —चारों ओर स्थित आठ देवों में शृंगारादि आठ रसों को प्रदर्शित करे तथा उनके बीच में महादेव के शान्तरूप की रचना की जाए ।]

इससे भी स्पष्ट है कि नवरस स्वीकार करना युक्तिसंगत है ।

इस शान्तरस के विभाव हैं लोक के प्रति वैराग्यभावना तथा संसार से भीति आदि । इन वैराग्य आदि के उपनिबन्धन से शान्तरस की प्रतीति होती

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।

एवं नवरसाः दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ॥ ८८ ॥

(अन्य रसों के) रति आदि स्थायीभाव वैकारिक भाव हैं किन्तु शान्त प्रकृति है । विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसी में लीन

हैं । मोक्षशास्त्र (उपनिषद् आदि) का चिन्तन करना शान्तरस के अनुभाव हैं और निर्वेद, मति, स्मृति, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं । अतएव स्मृति, धृति तथा उत्साहमूलक ईश्वरप्रणिधान विषयिणी भक्ति तथा श्रद्धा शान्तरस की अंगभूता है और उसकी अलग परिगणना भी इसी कारण नहीं की गयी । इस विषय में एक अन्य संग्रह कारिका इस प्रकार है :—

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ (ना० शा० ६।८३)

यहाँ 'मोक्षाध्यात्मनिमित्तः' से विभाव 'तत्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः' से स्थायीभाव तथा 'निःश्रेयसधर्मयुतः' पद से अनुभावों का सम्बन्ध क्रमशः तीन विशेषणों के द्वारा दर्शाया गया है । तथा :—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥ (ना० शा० ६।८७)

इत्यादि कारिका से शान्तरस ही अन्यरसों का मूलभूत है यह बतलाते हुए उपसंहार किया गया है ।

और जो 'डिम' में हास्य तथा शृङ्गाररस को छोड़कर 'षड्रसत्व' कहा जाएगा उसका अभिप्राय यह निकला कि 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' कहलाने वाले 'डिम' के लक्षण के अनुसार रौद्रप्रधान डिम में उसके विरोधी शान्तरस की सम्भावना न रहने से उसका निषेध भी व्यर्थ मानकर नहीं किया गया । पर शान्तरस का नाम न रहने से उसका अभाव नहीं मानना चाहिए । क्योंकि वैसा मानने पर उसे 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' विशेषण से कैसे व्यवच्छिन्न किया जाएगा ? 'शृङ्गार तथा हास्य से रहित और छः रसों से युक्त' कहने पर (और) किसकी प्राप्ति होती है जिसका भेद करने को विशेषण दिया गया । यदि इस पद से करुण तथा अद्भुत के प्राधान्य का निराकरण मानें तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि 'डिम' के लक्षण ने 'सात्वती तथा आरभटी

हो जाते हैं। शान्तरस से अपने-अपने हेतुओं को प्राप्त करते हुए सभी भाव उद्भूत होते हैं तथा निमित्त (हेतु) के दूर हो जाने पर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार नाट्यज्ञ मनीषीगण के लिये लक्षणों में युक्त 'नव रसों का वर्णन किया गया है ॥ ८७-८८॥

वृत्ति से युक्त' ऐसे विशेषण के कारण ही इन दोनों वृत्तियों से हीन करुण तथा अद्भुत रसों का निवारण हो जाता है। शान्तरस में सात्वतीवृत्ति रहने से 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' आदि विशेषण इसी का व्यवच्छेदक है। अतः 'डिम' के लक्षण से भी शान्तरस की पुष्टि होती है। बलात् सेवित शृङ्गार 'डिम' के अन्तर्गत प्रयुक्त होता है और हास्य उसके अंग रूप में मान्य है, इसीलिए इन्हीं दोनों का यहाँ निषेध किया गया है। मूलभूत या आत्मपरक रस होने के कारण इसके रंग तथा अभिमानी देवता की कल्पना अनुचित होने पर भी अन्य रसों से समानता लाने के कारण यहाँ भी ऐसा किया गया है। अतः यमनियम तथा ईश्वरप्रणिधान आदि के उपदेश पर आश्रित, महाफल, से युक्त, सभी रसों में प्रधान और समस्त इतिहासादि में व्याप्त रहने वाले शान्तरस की सत्ता युक्तिसंगत है।

(प्रश्न) तो फिर इसका आस्वादन कैसे होता है ?

(उत्तर) आत्मस्वरूप के आच्छादक उत्साह, रति आदि (स्थायी भावों) से आच्छादित जो आत्मतत्त्व है वह दूर-दूर पिरोई गयी मणियों के मध्य उज्ज्वल-सूत्र के समान इन भावों के बीच उद्भासित होता है और जब यह आत्मतत्त्व रति आदि समस्त आकर्षणों के अपने रूप में उपस्थित रहने पर भी प्रकाशित रहता है तब विषयों से विमुखता रूप समस्त दुःखजाल से मुक्ति मिल जाती है और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्नरूप में यह प्रतीति काव्य तथा नाट्य आदि के द्वारा समानरूप से प्रतीति आन्तरिक अवस्था के भेद से लोकोत्तर आनन्द का प्रदाता होकर हृदय को भी इसी प्रकार आनन्दमय बना देता है।

इस प्रकार नौ ही रस सिद्ध होते हैं। क्योंकि पुरुषार्थ में उपयोगी होने के अथवा प्रतीति की अधिकता के कारण केवल नौ रस ही माने जा सकते हैं। श्रीशङ्कुक आदि ने जो यह कहा कि 'स्नेह, भक्ति आदि अन्य रसों के सम्भव होने पर भी प्रसिद्धि के कारण ही यहाँ संख्या का निर्देश किया गया है' यह खण्डित हो जाता है। भावाध्याय (७ अ०) में आगे यही बात और विस्तार

एवमेते रसा ज्ञेयाः नव[1] लक्षणलक्षिताः।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार अपने लक्षणों से युक्त नौ रस समझना चाहिए। अब[1] आगे भावों के लक्षण बतलायेंगे ॥ ८९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्यायः षष्ठः।

से कहेंगे। और 'आर्द्रता नामक स्थायीभाव वाला स्नेह (वात्सल्य) रस होता है' यह कहना भी अनुचित है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार के आकर्षण का नाम है जो रति तथा उत्साह आदि सभी में समाया रहता हो। जैसे कि बालक का माता-पिता आदि के प्रति, युवकों का अपने मित्रों के प्रति और राम का लक्ष्मण आदि भाइयों के प्रति जो स्नेह का उदय है वह रति में समाविष्ट हो जाता है। यही बात वृद्धजन की पुत्रादि के प्रति स्नेह के विषय में भी समझना चाहिए। गन्ध स्थायीभाव वाले लौल्यरस के खण्डन विषय में भी यही पद्धति ग्रहण करना चाहिए क्योंकि हास, रति या अन्य किसी रस में उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्तिरस के विषय में भी खण्डन पद्धति रखी जाए और उसका शान्तरस में अन्तर्भाव मान लिया जाए। (अ० भा०)

१. प्रस्तुत अध्याय के विषय का उपसंहार कर अगले अध्याय के विषय की अवतारणा करते हुए अध्याय संगति को भरतमुनि प्रदर्शित करते हैं— 'एवमेते' इत्यादि कारिका से। यहाँ लक्षणलक्षिताः' पद से रसादि का व्यवहार सहेतुक होता है यह सूचित किया गया है। भाव आदि के लक्षणों से भी रस के लक्षण की ही पूर्ति होती है अतः यह कहना कि रति स्थायी भाव से युक्त, ऋतु माल्यादि विभावों से युक्त और नयनविक्षेप (कटाक्ष) आदि अनुभावों से युक्त शृङ्गाररस होता है, पूर्ण नहीं है। इस कथन में आकांक्षा बनी रह जाती है कि रति कैसी होती है? विभाव किसे कहते हैं तथा अनुभाव क्या हैं। अतएव यद्यपि आपाततः ये भावों के लक्षण प्रतीत होते हैं पर वाक्यैकवाक्यता के द्वारा रस के भी पूरक लक्षण हैं। यह बात मूल में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से बतलायी गयी है। इति शिवम्।

---

१. स्त्वष्ठौ—क०।

सप्तमोऽध्यायः

भाव—

भावानिदानीं व्याख्यास्यामः[1]। अत्राह—भावा इति कस्मात्, किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः। उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति।

भू[2] इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धम् अहो ह्यनेन[3] गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति[4]। तच्च व्याप्त्यर्थम्। श्लोकाश्चात्र—

अब मैं भावों को[1] बतलाता हूँ। इस विषय में प्रष्टव्य है कि इन्हें भाव क्यों कहा जाता है? उत्तर—यह इसलिये कि वे भावन करने या

---

१. पिछले अध्याय में भावों की चर्चा हो जाने पर पुनः यहाँ उसी बात को उठाने की आवश्यकता क्या है, क्योंकि वहीं 'भावाश्चापि कथं प्रोक्ताः' (६।३) इत्यादि के द्वारा भावविषयक प्रश्न किया जा चुका है, फिर इस अध्याय में 'किं भवन्तीति' के द्वारा उसकी पुनरुक्ति क्यों की जा रही है।

इस पर कुछ आचार्य अपनी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–"पिछले अध्याय में भावाश्चापि' इत्यादि से रसभाव आदि के प्रसंग में विभावादि की प्रश्न और प्रतिज्ञा के रूप में चर्चा सामान्य रूप में की गयी थी। यहाँ विभावादि के स्वरूप निरूपण हेतु सर्वप्रथम प्रधान होने के कारण चित्तवृत्तिरूप स्थायीभाव एवं व्यभिचारिभावों के लक्षण बतलाना इष्ट है अतएव यहाँ इसी से सम्बन्धित विशेष प्रश्न और प्रतिज्ञा करना आवश्यक है।"

पर हमारा मत इससे भिन्न है। हमारे मत में यहाँ भाव शब्द से चित्तवृत्ति विशेष ही ग्रहण की गयी है और उनचास भावों का कथन करते हुए उपसंहार भी इसी आधार पर किया गया है। उनको अपनी योग्यता के अनुसार स्थायी, संचारी, विभाव या अनुभाव माना जाता है तथा जो ऋतु माल्य

---

१. वक्ष्यामः—घ०। २. भावः इति करणसाधनं यथा भावितं—घ०।
३. ह्यन्योन्यगन्धेन—घ०। ४. अपि च व्याप्त्यर्थम्—ग०।

स्थित होने से 'भावयन्तीति भावाः' (व्युत्पत्ति) के अनुसार भाव कहे जाते हैं। प्रश्न—और वे भाव किसका भावन करते हैं? उत्तर—ये शब्दों (वाणी), शरीर के अवयवों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा दृश्य-काव्य के अभिप्राय को दर्शकों को बतलाते हैं।

'भाव' शब्द 'भू' धातु से करण (हेतु) अर्थ में निष्पन्न (शब्द) है। भावित, वासित तथा कृत भी इसी अर्थ को प्रकट करनेवाले (समान) शब्द हैं। लौकिक-व्यवहार में भी ये एक दूसरे की सुगन्ध से या रस से भावित हैं, इत्यादि प्रयोग होते देखे जाते हैं। यहाँ 'भावन' का अर्थ है व्यापना।

इसी विषय के प्रतिपादक निम्न श्लोक हैं।

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु[1] गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ १॥

आदि (उद्दीपन) विभाव तथा आँसू बहाना आदि बाह्य-क्रियारूप अनुभाव हैं वे अपने जड़ स्वभाव के कारण 'भाव' कहे जा सकते हैं।

और यदि यह मानों कि वे रसप्रतीति को काव्य नाट्य आदि के प्रसंग में सम्पन्न करवाते हैं और भावमग्न भी करते हैं अतः प्रतीति परक क्यो न माने जायें? तो फिर विज्ञानवाद के अनुसार तो उपचार से सारा समग्र विश्व भावमय माना जाए क्योंकि नाट्य में उसी का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। तो फिर इनमें पार्थक्य कैसे होगा? इसलिये स्थायी, व्यभिचारि तथा सात्त्विक ही 'भाव' होते हैं अन्य नहीं। यहाँ विभाव तथा अनुनावों की चर्चा प्रासंगिक रूप (अंगरूप) में ही की जाएगी [प्रधानरूप से नहीं]।

और यहाँ जो 'पुनरुक्ति' की आशंका की गयी है वह भी अनुचित है क्योंकि रसाध्याय के आरम्भ में भावों का अंग रूप में कथन किया गया है, यह कथन उद्देश कथन नहीं है क्योंकि वहाँ केवल उल्लेख मात्र है, नाम लक्षण आदि का अभिधान नहीं [अतएव भावों का कथन अवसर प्राप्त है] और पूर्वाध्याय में जो भावों की चर्चा है वह रसों के लक्षणों के अन्तर्गत गौणरूप में आयी है क्योंकि वहाँ मुख्य रूप में रस लक्षण ही इष्ट है अतएव अब यहाँ भावों का कथन अवसर प्राप्त है। [अ० भा०]

---

१. ह्यनुभावेन—घ०।

जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होते हुए अनुभावों से बोध्य होते हैं वे ही वाणी, अंग, तथा सात्विक भावों के अभिनयों से युक्त होने पर 'भाव'¹ कहे जाते हैं ॥ १ ॥

---

१. भाव चित्तवृत्तिस्वरूप होते हैं अतः इनकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है। 'भवन्तीति भावाः'। यहाँ 'भवति' को रतिभाव के प्रकट होने की स्थिति में मानकर एक अर्थ, कि ये स्थित होने के कारण भाव हैं, व्युत्पन्न हो जाता है। इसमें भाव अपने उत्कर्ष या विस्तार को प्राप्त करता है। और पुनः 'भावयन्तीति भावाः' से 'भाव' का यह आशय लिया जायगा कि यह धीरे-धीरे, अधिकतर-अधिकतम रूप में विकसित होता रहता है और एक क्षण के लिये भी स्थित नहीं होता। इससे ये भाव सीमित समय में अनुभाव की प्रतीति के द्वारा चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं [यह आशय 'भावयन्तीति भावाः' के अनुसार (भी दूसरी तरह से) व्युत्पत्ति करने पर निकलता है] और इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर आस्वादनीय स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। दोनों व्युत्पत्तियों की संभावना के कारण यहाँ 'भवन्ति' तथा 'भावयन्ति' (दो व्युत्पत्तियों) को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ दो व्युत्पत्तियाँ दिखला कर प्रश्न की उद्भावना भी मूलमें की गयी है कि भाव 'भवन्ति' के अनुसार स्थित होने के कारण है या 'भावयन्ति' के अनुसार है। और यदि 'भावयन्ति' के अनुसार है तो ये व्याप्त हो कर क्या अनुभावन करते हैं?

इस प्रकार प्रश्न उपस्थित कर भरतमुनि इसके उत्तर में—'वागङ्ग' इत्यदि से कहते हैं। काव्य के पदों तथा वाक्यों में असाधारणता तथा प्रधानता रहने से उनका पर्यवसान रस में होता है अतः काव्य का अर्थ यहाँ रसरूप है। यहाँ अर्थ शब्द का आशय है जो प्रधानतः प्रतिपाद्य या इष्टतम होकर भावना करवाता हो। यहाँ 'अर्थ' शब्द का केवल शब्दार्थ या वाच्यार्थ नहीं लेना चाहिए। क्योंकि रसादि अर्थों का स्वशब्द से अभिधान न करना ही ध्वनिकार आदि सभी आचार्यों ने दिखलाया है।

इस प्रकार काव्य के अर्थरूप रस की भावना या आस्वादन कराना ही यहाँ इष्ट है। यह लौकिक अर्थरूप आस्वादन स्थायी तथा व्यभिचारि आदि भावों के समूह से सम्भव या सम्पन्न किया जाता है। पहले स्थायी आदि की प्रतीति होकर फिर सर्वसाधारण भावों का आस्वादन सम्भव होता है। यह

आस्वादन पूर्व परिचित भाव का प्रत्यक्षभूत हो कर अगली आस्वादन भूमिका का निष्पादक होने से (आस्वादन की) भावना करवाने वाला कहा जाता है। अतः भाव का निष्पादक या उत्पादक रसास्वादन है। वाणी आदि इसी के (निष्पादक) कार्य रूप में अवस्थित रहते हैं। इसलिये वर्णनात्मकतारूपी वाचिक, निवेश स्थिति या घुमाव आदि शारीर क्रियात्मक आङ्गिक तथा आत्मा के अन्तर्गत भाव तथा बाह्यक्रियारूपी सात्त्विक अभिनय के द्वारा काव्यार्थ अर्थात् रसानुभव को अभिव्यक्त किया जाता है। यहाँ यद्यपि नृत्य कला, ध्रुवा आदि का अन्तरंग भूत 'आहार्य' अभिनय भी होता है तथापि चित्तवृत्तिरूप भावों का भावन करवाने में वाचिकादि तीनों अभिनयों का ही सहकार आवश्यक है, यही दिखलाने के लिये (कारिका में) तीन अभिनयों का उल्लेख किया गया है। (क्योंकि काव्य का अनुभावन आहार्य के बिना भी होते देखा गया है।)

वाचिक आदि अपनी अभिनय प्रक्रिया से सम्पादित ये अलौकिक चित्त-वृत्तियाँ अपनी आत्मस्थ लौकिक अवस्था का आस्वादन न करवाते हुए रसरूप का आस्वादन या भावन करवाती हैं अतः चित्तवृत्तियाँ ही भाव हैं। यहाँ भू धातु अंतर्भावित व्यर्थ है जो प्रकृत में 'करोति' या स्थित अर्थ को बतलाती-है। यही मूल में—'भू इति' इत्यादि से कहा गया है। भू धातु का 'णिच्' से सम्बन्ध होकर 'भावित' शब्द बनाया गया है। भावित, कृत तथा वासित आदि शब्द समानार्थक है।

वाचिक आदि अभिनयों के अंगों के द्वारा अभिव्यक्त होकर 'भाव' रस-प्रतीति रूप भावना सम्पन्न करता है इस शास्त्रीय अर्थ का प्रमाण लोकप्रचलित आधार पर भी दिया जा सकता है इस आशय से मूल में—'लोकेऽपि' इत्यादि से कहा गया है। केवल लोक में (ही) रस के भावित तथा कृत शब्द के अर्थ ही प्रसिद्ध नहीं हैं [अर्थात् लोक में इस रस के द्वारा यह पदार्थ भावित कर दिया गया इत्यादि अर्थ ही प्रसिद्ध नहीं है] किन्तु पूर्णतः व्याप्त है, ऐसा अर्थ भी लिया जाता है। यह परिव्याप्त होना अर्थ मूल में 'च' शब्द से दर्शाया गया है। 'सर्व' शब्द से गन्ध रस आदि का ग्रहण समझना चाहिए।

'परिव्याप्ति' का यह अर्थ (एक)उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। कस्तूरी की गन्ध से वस्त्र उसकी गन्ध नहीं बन जाता है किन्तु उसके गुण से पूर्णतः

वागङ्गमुखरागेण[1] सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥ २ ॥

संक्रान्त हो जाता है और न उसके समान अन्य गुण की (वस्त्र में) उत्पत्ति ही जाती है। जैसे (भोज्य आदि) पदार्थ गन्ध आदि से भावित होते हैं उसी प्रकार वस्त्रादि में कस्तूरी की परिव्याप्ति समझना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृत विषय में वाचिक आदि अभिनय देश काल की प्रमुख एवं विशिष्ट अवस्थाओं को प्रस्तुत करते हैं और अभिनेता में रामादि के वास्तविक गुण न होने पर भी भ्रान्तज्ञान न होकर साधारणीकरण के द्वारा पात्रों को भूमिका में उनकी उन्हीं चित्तवृत्तियों को प्रस्तुत करते हुए अनुभावन करवाया जाता है (यह कस्तूरीगन्ध के समान अनुभावन समझना चाहिए)। तथा इससे सामाजिक अपने आत्मरूप भाव को भावित करता है अतः 'भावयन्तीति भावाः' अर्थात् भावित करने से भाव हैं, यह भावित होने का प्रमुख तात्पर्य माना जाना चाहिए। [अ० भा०]

इसके अतिरिक्त और भी प्राचीन आचार्यों ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है जिसे संग्रह कहने के लिए भरतमुनि निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

१—विभावैराहृतो—विभाव का अर्थ है आलम्बन आदि विषय, क्योंकि उसी से भाव निष्पन्न होता है। अतः विभाव की अपेक्षा से जो भावित (निष्पादित) किये जाते हैं 'वे भाव' हैं। दूसरे आचार्य विभाव और अनुभाव के साथ संचारी भाव को भी अन्तर्गत करते हैं। उनके मत में व्यभिचारिभाव के साथ भी भक्ति होने अर्थात् मिश्रीभाव की प्रक्रिया सम्पन्न की जा सकती है और व्यभिचारिभाव से अन्य व्यभिचारिभावों की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे निर्वेद से चिन्ता, श्रम से निर्वेद इत्यादि। यह कथन उचित नहीं। क्योंकि स्थायीभाव व्यभिचारिभाव हो जाते हैं पर व्यभिचारिभाव स्थायीभाव नहीं होते। क्योंकि ऐसा मानने पर उसके आस्वाद में अन्यरस की प्रतीति माननी पड़ेगी। और जहाँ स्थायीभाव के अन्तर्गत व्यभिचारिभाव में अन्य व्यभिचारिभावों की उत्पत्ति दिखाई देती है (जैसे पुरूरवा के उन्माद में तर्क या चिन्ता आदि संचारी भावों की उत्पत्ति) वहाँ भी व्यभिचारिभाव रति स्थायीभाव

---

१. मुखरागैश्च—ग०, घ०।

नाट्यकार के नाट्य-रचना में निगूढ़ भावों को दर्शकों को बोधगम्य बनाने के लिये जो वाणी, शरीर के अवयवों तथा चेहरों के रंगों द्वारा भाव का प्रदर्शन किया जाता है उसे 'भाव' जानो ॥२ ॥

के साथ मिल कर उसी को पुष्ट करते हैं। और यहाँ उन्माद केवल अमात्य स्थानीय होकर अन्य व्यभिचारिभावों से पुष्ट है परन्तु मुख्य तो रति ही है, जैसा कि आगे 'यथा नरेन्द्र' (७।१०) इत्यादि से भरतमुनि ने स्वयं कहा है।

(२) **वागङ्गमुख**—इस प्रकार लोकवृत्त का अनुकरण नाट्य में बतला कर कवि तथा अभिनेता के द्वारा क्रमशः उद्भावना या शिक्षा अभ्यास से उद्भावित या प्रस्तुत किये जाने वाले सामाजिक के अभिप्राय से भावित या निरूपित होने वाले 'भाव' का निरूपण संग्रहरूप में बतलाने के लिये संग्रहरूप दो पद्य कहे गये हैं। अर्थात् वाचिक, आङ्गिक, मुखरागात्मक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा कवि के काव्यकौशल से युक्त वर्णन के अन्तर्गत जो अन्तः-करण में स्थित भाव को अनादि काल से पूर्वजन्म के संस्कार आदि के कारण तज्जन्य वासना से युक्त लौकिक होकर भी प्रतिभाप्रसूत रहने वाले मनोभाव का देश, काल आदि भेदों से मुक्त साधारणीकृत रूप में जो आस्वादन योग्यता का निर्माता है वह भाव है। चित्तवृत्ति स्वरूप भाव होता है। सत्त्व का अर्थ है चित्त की एकाग्रता का भाव, उससे उत्पन्न सात्त्विक भाव है, जिनमें कृत्रिम आँसू आदि की उपलब्धि होती है और संचारीभाव में अतिशय उसकी प्राप्ति या उपलब्धि होती है ऐसा अपनी-अपनी अवस्था या संयोग के अनुसार समझना चाहिए। मुखराग यद्यपि सात्त्विक भाव के अन्तर्गत आ जाता है परन्तु अभिनय में इसका महत्त्व होने से विवर्ण भाव वाला मुखराग भी यहाँ प्रधानतः अभिहित किया है। जैसा कि आगे कहा जाएगा—

"शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत् ॥"

(ना० शा० ८।१६५)

क्योंकि इसी के कारण अनेक सूक्ष्म भावों की अभिनय में अभिव्यक्ति की जा सकती है।

(३) **नानाभिनय**—क्योंकि ये भाव आस्वादन के योग चित्रवृत्ति विशेष को भावित करते हैं, ले जाते हैं, प्रतीत करवाते हैं या बुद्धि के गोचर करवाते

नानाभिनयसंबद्धा[1]न्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३ ॥

क्योंकि ये अनेक विध अभिनयों से (युक्त) रसों का भावन करते हैं अतएव इन्हें नाट्य निर्माता (या प्रयोक्ता) गण 'भाव' कहते हैं ॥ ३ ॥

विभाव—

अथ विभाव इति कस्मात् । उच्यते—विभावो नाम विज्ञानार्थः । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनय इति विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् ।

(प्रश्न) 'विभाव'[1] शब्द का प्रयोग किस हेतु होता है ? (उत्तर) 'विभाव' शब्द का प्रयोग विशिष्ट (स्पष्ट) ज्ञान के लिए किया जाता है ।

हैं (अतः भाव हैं) । 'इमान्' का अर्थ है सामाजिकों को रसप्रतीति करवाने के कारण । यहाँ 'अभिनयसहितान्' के द्वारा यह दर्शाया गया है कि अभिनय भी सामाजिकों को बुद्धि गोचर करवाया जाता है । यही भावना रसों को अपने उपयुक्त स्वरूप द्वारा भावित करती है और लौकिक जीवन में विद्यमान रति आदि भावनाओं को स्थायी भावों के रूप में अभिव्यक्त कर शृङ्गारादि रसों की अभिव्यक्ति या बोध करवाती है । [अ० भा०]

१. पूर्व कारिका में भाव को विभाव से प्रस्तुत बतलाया था; वहाँ यद्यपि प्राकरणिक रूप में चित्तवृत्तियों से उत्पन्न होने वाला कारण रूप विषय विभाव शब्द का अर्थ है ऐसा बतलाया था फिर भी उसके शास्त्रीय अर्थ के विषय में जिज्ञासा बनी ही रहती है । अतः उसी जिज्ञासा के कारण 'विभाव इति कस्मात्' इत्यादि के द्वारा यहाँ स्वरूप विषयक प्रश्न किया गया है । 'कस्मात्' शब्द से उसी प्रश्न को विस्तार देकर पूछा गया है कि ऋतु, माल्य आदि को विभाव शब्द द्वारा क्यों कहा गया है ।

भरतमुनि 'विभाव्यन्ते' इत्यादि से इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं । जिन (वाचिक आदि अभिनयों) के द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारिभावों का विभावन अर्थात् विशेषरूप से ज्ञान करवाया जाता है वे विभाव कहलाते हैं ।

---

१. सम्बन्धान् —ग० ।

इसके कारण, निमित्त या हेतु पर्याय हैं। (या ये शब्द एकार्थक हैं)। क्योंकि जिसके द्वारा वाणी, अंग तथा सात्त्विक अभिनय का स्पष्ट ज्ञान होता है उसे विभाव जानो। विभावादि तथा विज्ञात शब्द समानार्थक हैं।

अत्र श्लोकः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः[1]।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ ४॥

इस विषय में एक श्लोक है :—

क्योंकि इसके द्वारा वाणी, अंग तथा अभिनय में स्थित अनेक अर्थों का अवबोध होता है अतएव इसे 'विभाव' संज्ञा से अभिहित किया गया है॥ ४॥

अनुभाव[1] :—

अथानुभाव इति कस्मात्? उच्यते—
[2]अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति।

(प्रश्न) 'अनुभाव' शब्द का प्रयोग क्यों होता है? (उत्तर) क्योंकि ये अभिनय को वाणी, अंग तथा सात्त्विक भावों के द्वारा अनुभूति योग्य बनाते हैं, अतः 'अनुभाव' कहलाते हैं।

ज्ञापन करने वाले हेतु विभाव हैं जिन्हें कारण पदवाच्य कहा जाता है। क्योंकि एक ही भाव का अभिनय अनेक कारणों से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे हर्ष आदि से हास तथा धूप, धुआँ या रोग आदि से आँसू उत्पन्न होते हैं। तो इनकी प्रतीति ठीक से कैसे होगी इसलिये कारण स्वरूप विभाव को देखकर शीघ्र ही सन्देह दूर होकर निश्चय हो जाता है। अतः विभाव ज्ञापक हेतु हैं।

१. अनुभाव—'वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक क्रियायें अभिनय को अनुभूति योग्य बनाते हैं' का आशय है वाणी, अङ्ग तथा सत्त्व से युक्त चेष्टायें या व्यापार ही 'अनुभाव' हैं। अनुभाव अंगभूत होने से या सहायक होने के

---

१. भिनयाश्रिताः—ग०।

२. 'यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्वैः कृतोऽभिनयः' इति—ग०।

अत्र श्लोकः—

[1]वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
[2]शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ५ ॥

इस विषय में एक श्लोक (भी) है ।

क्योंकि (यह) दर्शकों को वाणी तथा अंग के अभिनय के द्वारा अर्थ की अनुभूति (या ज्ञान) को सम्पन्न करता है अतः शाखा, अङ्ग, एवं उपांग से संयुक्त यह 'अनुभाव' कहलाता है । (अथवा वाचिक, तथा आंगिक एवं उपांगों के अभिनय से सम्बद्ध रहने के कारण इसे 'अनुभाव' कहते हैं) ॥ ५ ॥

एवं[3] ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः । अतो ह्येषां भावानां सिद्धिर्भवति । तस्मादे[4]षां भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तत्र विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ । लोकस्वभावानुगतत्वाच्च[5] तयोर्लक्षणं[6] नोच्यतेऽति प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्[7] ।

कारण भावों के साथ ही उत्पन्न तथा तिरोहित होते रहते हैं; अतः ये सहाव-स्थिति की दशा में रहने पर सहायक ही माने जाने चाहिए । साहित्यदर्पणकार ने इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ लेकर 'अनु–पश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः' कहकर उन्हें भावों के पश्चाद् उत्पन्न होने वाले 'कार्यरूप' माना है । परन्तु भावों तथा अनुभावों की कारण कार्य परक स्थिति तात्विक नहीं है क्योंकि अनुभाव स्थायी आदि भावों से भी उत्पन्न हो सकते हैं और उनके साथ भी रह सकते हैं अतः ऐसी आशंकाओं की व्यर्थ उत्पत्ति करवाने वाले लक्षण की अपेक्षा भरतमुनि के क्रिया रूप व्यापार या अभिनय के अन्तर्गत होनेवाली चेष्टाओं को 'अनुभाव' मानना सुगम होगा ।

---

१. वागङ्गसत्वाभिनयैर्यस्मादर्थो विभाव्यते—ख० ।

२. वागङ्गोपाङ्ग—ग०, घ० ।

३. 'एवं ते' इत्यारभ्य 'सिद्धिर्भवति' इत्यन्तः पाठः ग—पुस्तके नास्ति ।

४. एतेषां—ग० । ५. लोकस्वभावोपगतत्वात्—ग० ६. च्चैषां—ग० ।

७. निवृत्यर्थञ्च—घ० ।

(इस प्रकार) हमने विभाव तथा अनुभाव से संयुक्त 'भावों' को बतलाया क्योंकि इसी प्रकार इन भावों की उत्पत्ति होती है। अब हम विभाव तथा अनुभाव से संयुक्त (इन) भावों का लक्षण तथा उदाहरण देते हुए व्याख्या करेंगे। इनमें विभाव तथा अनुभाव के लोक प्रसिद्ध और मानव प्रकृति के अतिशय अनुगामी होने के कारण लक्षण नहीं बतलाए गए। इनके लक्षण न बतलाने का यही हेतु है।

भवति चात्र श्लोकः—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुभावा[1] विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥ ६॥

इस विषय में एक श्लोक (भी) है—

लोक प्रकृति से उत्पन्न होने वाले और लोक व्यवहार के अनुसर्त्ता इन अनुभाव तथा विभावों को स्वयं विद्वजन लोकप्रचलित कार्य द्वारा (अभिनय में) समझ लें।

भावों के तीन प्रकार (स्थायी, संचारी तथा सात्विक)

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

इन भावों में आठ स्थायीभाव, तैंतीस संचारी (व्यभिचारि) भाव तथा आठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार भाव तीन (प्रकार के होते) हैं। काव्य की रसाभिव्यक्ति में करणीभूत ये ही उनचास भाव हैं। इन्हीं के सामान्यगुणों[1] के संयोग द्वारा रसादि निष्पन्न होते हैं। (रस-निष्पत्ति का पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है)

---

१. सामान्यगुणयोगेन का अर्थ है—इन विभिन्न भावों के द्वारा या इनके माध्यम से रसप्रतीति करवाना। अर्थात् विशिष्ट या व्यक्तिनिष्ट भावों का साधारणीकरण की भूमिपर प्रतिष्ठापित कर बोधगम्य या प्रतीतियोग्य बनाना।

---

१. अनुभावविभावाश्च—ग०।

अत्र[1] श्लोकः—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ ७ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक भी है :—

जो वस्तु या पदार्थ हृदयस्पर्शी हों, उनका (हृदयस्पर्शी होने में) रस से उत्पन्न होनेवाला कारण 'भाव' है। यह (भाव) सम्पूर्ण शरीर में (तत्काल) उसी प्रकार व्याप जाता है जैसे सूखी लकड़ियों में अग्नि ॥७॥

स्थायीभाव का अन्य भावों से पार्थक्य—

अत्राह—यदि काव्यार्थ[2]-संश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं स्थायिन[3] एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। उच्यते—यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणि-पादोदरशरीराः[4] समानाङ्गप्रत्यङ्गा[5]अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्प-विचक्षणत्वाद्रा[6]जत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति, तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति। बह्वाश्रयत्वा[7]त्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः तद्वत्स्थानीयपुरुषगुणभूता[8] अन्ये भावास्तान्गुणतयो[9]ऽऽश्रयन्ते [तत्र स्थायिभावाः रसत्वमाप्नुवन्ति] परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः (तान् गुणतयाऽश्रयन्ते)।

यह कार्य सभी भावों के संयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता है जिसका विश्लेषण 'रसनिष्पत्ति' के प्रसंग में विस्तार से किया जा चुका है।

---

१. भवति चात्र—ग०। २. यदान्योन्यार्थसंश्रितैः—ग०।
३. कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ—ग०।
४. पादोदरसमानाः—ग०। ५. समानप्रत्ययाः—ग०।
६. विचक्षणत्वयुक्ता—ग०। ७. इत्याश्रयत्वात्—ग०।
८. तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूताः—ग०।
९. गुणवत्तया—ग०।

(प्रश्न) यदि काव्य के अर्थों के आश्रित विभाव, अनुभाव (तथा संचारी भावों) द्वारा—जो कि (कुछ) उनचास हैं—रस निष्पन्न होते हैं। और रस इन भावों के सामान्य गुणों के संयोग से (ही) जब निष्पन्न होते हैं तो फिर स्थायीभाव ही रसत्व की अवस्था को कैसे प्राप्त करते हैं, अन्य भाव (विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव) रसावस्था को क्यों नहीं प्राप्त करते ? (उत्तर) जैसे एक जैसे लक्षणवाले हाथ, पैर, उदर तथा शरीर के समान होने पर और अङ्ग प्रत्यंग के समान रहने पर भी (कुछ) पुरुष अपने कुल, शील, विद्या, कर्म तथा शिल्प-गत विलक्षणता के कारण आधिपत्य प्राप्त करते हैं और शेष अपनी बौद्धिक (या अन्य) न्यूनता के कारण (वहीं) सेवक रह जाते हैं, वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव स्थायीभाव के आश्रित होकर रहते हैं। (क्योंकि स्थायीभाव अनेक भावों द्वारा आश्रित रहने के कारण मुख्य है। (इसी प्रकार जो) सेवकों के समानगौणता को लिये हुए अन्य संचारी भाव हैं वे मुख्य भाव का आश्रय ग्रहण करते हैं और गौणभूत ये संचारी (भावादि) राज्य के परिवार के समान (स्थायीभाव के पारिवारिक भाव) हैं।[1]

---

१. स्थायीभाव की प्रधानता का एक अन्य कारण यह भी है कि यह प्रकर्ष को प्राप्त कर अन्य (अनुभावादि भावों) का प्रच्छादक हो जाता है : आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने स्थायीभाव का अन्य विभावादि से पार्थक्य बतलाते हुए विशेष विचार प्रस्तुत किये हैं। तदनुसार रत्यादि स्थायीभाव ज्ञानस्वरूप होने से चेतनात्मक या चेतनास्वरूप होते हैं। वेदान्तशास्त्रादि के अनुसार ज्ञानात्मकता चैतन्य स्वरूप होती हैं। धैर्यादि (मानस क्रियाएँ) अनुभाव ज्ञानरूप होने से अजड़ तथा स्वेदादि अनुभाव शारीरिक या बाह्य क्रियायें होने से जड़ हैं इसलिये अनुभाव उभयरूप हैं। इसी प्रकार वनितादि आलम्बन विभाव चेतनरूप और ऋतुमाल्यादि उद्दीपन विभाव जड़रूप होने से और निर्वेदादि व्यभिचारिभाव ज्ञानरूप होने से चेतनरूप तथा व्याध्यादि शरीरधर्मा होने से जड़ात्मक हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि (एवं सात्विक) भाव ज्ञानरूप (अजड़) और शरीरधर्मादिरूप (जड़) होने से उभयरूप होते हैं और यह भी स्थायी और अन्य विभावादि में परस्पर अन्तर (होता) है। अन्य विद्वान् स्थायी और व्यभिचारिभाव के अन्तर को एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। तदनुसार जैसे सूत्र प्रत्येक मणि के साथ

अत्राह—को दृष्टान्त इति। यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।

(प्रश्न) इस विषय में दृष्टान्त क्या होगा? (उत्तर) जैसे बड़े परिवार (या अनेक परिजन) से युक्त होने पर भी केवल राजा का ही नाम रहता है। उससे बड़े (कुटुम्बी-जन) का भी नाम नहीं रहता। वैसे ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से युक्त स्थायीभाव ही नरेन्द्र के समान रस-दशा को प्राप्त करता है (अन्य भाव नहीं।)

स्थायीभाव (लक्षण)

भवति चात्र श्लोकः—

तथा नराणां नृपतिः शिष्याणाञ्च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥ ८॥

इस विषय में एक (परम्परा प्राप्त) श्लोक है —

जैसे मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरु मुख्य होते हैं वैसे ही सब भावों में स्थायी[1] भाव मुख्य (श्रेष्ठ) माना गया है॥ ८॥

लक्षणं खलु पूर्वमभिहितमेषां रस-संज्ञकानां निदर्शनं[1] तु। इदानीं भावसामान्यलक्षणमभिधास्यामः। तत्र[2] स्थायिभावान्वक्ष्यामः—

इनमें रसदशा को प्राप्त करने वाले रसों के लक्षण तथा द्रष्टान्त बतलाए जा चुके हैं। अब हम भावों के सामान्य लक्षण बतलाएँगे। (इनमें भी) सर्वप्रथम स्थायीभावों के लक्षण बतलाते हैं—

रह कर रत्नमाला बनाता है इसी प्रकार स्थायीभाव प्रत्येक संचारी से सम्बद्ध होकर रसावस्था को प्राप्त करता है।

१. स्थायीभाव रत्यादि परिणाम के उत्पादक होने से रसादि के परिणामि कारण हैं। ये रत्यादि जिस रस के स्थायीभाव माने गये हैं उनसे भिन्न रसों में व्यभिचारिभाव या अनुभावरूप भी हो सकते हैं। परन्तु दूसरे रसों में रत्यादि के आगन्तुक स्वरूप में रहने से (उनका) स्थायीभावत्व नहीं होता है।

१. निदर्शनन्तु इति ग पुस्तके नास्ति। २. तत्रादौ—ग०।